जे. स्तालिन

सोवियत संघ में समाजवाद की आर्थिक समस्याएँ

★

प्रकाशक

भारत में तास के प्रतिनिधि, त्रावणकोर हाउस,

कर्ज़न रोड, नई दिल्ली

पहला हिन्दी संस्करण
फरवरी, १९५३

प्रकाशक का नोट

फॉरेन लैंग्वेजेज़ पब्लिशिंग हाऊस, मास्को, मे अंग्रेज़ी में प्रकाशित जोसेफ स्तालिन की पुस्तिका—"सोवियत संघ में समाजवाद की आर्थिक समस्याएं"—का यह हिन्दी अनुवाद है।

★

मूल्य चार आना

भारत में तास के प्रतिनिधि एफ. मतवेयेव द्वारा त्रावणकोर हाउस, कर्ज़न रोड, नई दिल्ली से प्रकाशित तथा जयन्त भट द्वारा न्यू एज प्रिंटिंग प्रेस, १९० बी. खेतवाडी मेनरोड, बम्बई ४. में मुद्रित।

विषय-सूची



जोसेफ विस्सारियोनोविच स्तालिन

आर्थिक बहस में
हिस्सा लेनेवालों को !

नवम्बर १९५१ की बहस से सम्बंधित आर्थिक सवालों पर विचार

अर्थशास्त्र पर पाठ्य-पुस्तक के मसौदे को जाँचने-परखने के लिये आयोजित आर्थिक बहस की सारी सामग्री मुझे मिल गयी है। इस सामग्री में "अर्थशास्त्र पर पाठ्य-पुस्तक के मसौदे को सुधारने के लिये सुझाव", मसौदे की "भ्रान्तियों और ग़लत तथ्यों को दूर करने के लिये सुझाव" और "बहसतलब मसलों पर मेमोरैंडम" हैं।

इस तमाम सामग्री पर और पाठ्य-पुस्तक के मसौदे पर भी नीचे लिखी बातें कहना मैं जरूरी समझता हूँ।

१. समाजवाद में आर्थिक नियमों का स्वरूप

कुछ कॉमरेड समाजवाद में विज्ञान के नियमों, और ख़ासकर अर्थशास्त्र के नियमों के वस्तुगत स्वरूप से इन्कार करते हैं। वे इस बात से इन्कार करते हैं कि अर्थशास्त्र के नियम उन नियमबद्ध घटना-क्रमों को प्रतिबिंबित करते हैं जो मनुष्य की इच्छा से स्वतंत्र काम करते हैं। वे समझते हैं कि इतिहास ने सोवियत राज्यसत्ता को जो

खास भूमिका दी है, उससे सोवियत राज्यसत्ता और उसके नेता अर्थशास्त्र के मौजूदा नियमों को मंसूख कर सकते हैं और नये नियम " रच " सकते हैं, " निर्मित " कर सकते हैं।

ये कॉमरेड बहुत बड़ी गलती करते हैं। ज़ाहिर है कि वे विज्ञान के नियमों को, जो प्रकृति या समाज के उन वस्तुगत घटना-क्रमों को प्रतिबिंबित करते हैं, जो मनुष्य की इच्छा से स्वतंत्र काम करते हैं, उन नियमों से उलझा देते हैं जिन्हें सरकारें बनाती हैं, जो मनुष्य की इच्छा से निर्मित होते हैं और जो सिर्फ़ क़ानूनी तौर पर लागू होते हैं। लेकिन उन्हें उलझाना न चाहिये।

मार्क्सवाद के अनुसार विज्ञान के नियम —वे चाहे प्राकृतिक विज्ञान के नियम हों चाहे अर्थशास्त्र के—उन वस्तुगत घटना-क्रमों के प्रतिबिंब हैं जो मनुष्य की इच्छा से स्वतंत्र काम करते हैं। मनुष्य इनका पता लगा सकता है, उनसे परिचित हो सकता है, उनका अध्ययन कर सकता है, अपने कामकाज में उनका ध्यान रख सकता है और समाज के हित में उन्हें काम में ला सकता है, लेकिन वह उन्हें बदल या मंसूख नहीं कर सकता। विज्ञान के नये नियम तो वह और भी रच या निर्मित नहीं कर सकता।

क्या इसका यह मतलब है कि, मसलन, प्राकृतिक नियमों की क्रिया के नतीजे, प्राकृतिक शक्तियों की क्रिया के नतीजे, आम तौर से अनिवार्य होते हैं, कि प्राकृतिक शक्तियों की विनाशकारी क्रिया हमेशा और हर कहीं ऐसे अप्रतिहत और अदम्य वेग से होती है कि वह इन्सान के प्रभाव के सामने झुकती नहीं है? नहीं, इसका यह मतलब नहीं है। नक्षत्री, भूगर्भी और इस तरह के दूसरे घटना-क्रमों को छोड़कर, जिन पर उनके विकास के नियमों को जानकर भी इन्सान प्रभाव डालने में दरअसल असमर्थ है, अन्य कई घटना-क्रमों के सम्बंध में इन्सान क़तई असमर्थ नहीं है, इस अर्थ में कि वह प्रकृति के घटना-क्रमों

पर प्रभाव डाल सकता है। इन सब जगहों में प्रकृति के नियमों को जानकर, उनका ध्यान रखकर और उनका भरोसा करके और होशियारी से उन्हें लागू करते और काम में लाते हुए मनुष्य उनके कार्य-क्षेत्र को सीमित कर सकता है और प्रकृति की विनाशकारी शक्तियों को दूसरी दिशा में मोड़ सकता है और समाज के फ़ायदे के लिये उन्हें इस्तेमाल कर सकता है।

बहुत सी मिसालों में से हम यह एक मिसाल लेते हैं। पुराने ज़माने में लोग नदियों की बाढ़, सैलाब, और उनसे होनेवाली घर-बार और फसलों की तबाही को ऐसी विपदा समझते थे जिस पर इन्सान का कोई बस नहीं था और जो आती थी तो आकर ही रहती थी। लेकिन समय बीतने पर और इन्सान के ज्ञान का विकास होने पर, जब उसने बाँध बाँधना और पनबिजली के कारखाने बनाना सीख लिया, तब बाढ़ की विपदा से, जो पहले अदम्य मालूम होती थी, समाज की रक्षा करना मुमकिन हो गया। और भी, इन्सान ने प्रकृति की विनाशकारी ताक़तों की रोकथाम करना, कह सकते हैं कि उनको क़ाबू में करना सीख लिया, पानी की ताक़त को समाज के फ़ायदे के लिये तब्दील करना और खेतों की सिंचाई के लिये और बिजली पैदा करने के लिये इस्तेमाल करना सीख लिया।

क्या इसका यह मतलब है कि इस तरह से इन्सान ने प्रकृति के नियमों को, विज्ञान के नियमों को मंसूख़ कर दिया और प्रकृति के नये नियम, विज्ञान के नये नियम बना लिये? नहीं, इसका यह मतलब नहीं है। हक़ीक़त यह है कि पानी की विनाशकारी ताक़तों की क्रिया को रोकने और समाज के हित में उन्हें इस्तेमाल करने का यह तमाम सिलसिला वैज्ञानिक नियमों को तब्दील, मंसूख़ या भंग किये बिना या नये वैज्ञानिक नियम रचे बिना ही पूरा होता है। इसके विपरीत, यह तमाम सिलसिला प्रकृति के नियमों और विज्ञान के नियमों के एकदम अनुरूप ही पूरा होता है, क्योंकि प्रकृति के नियमों का कैसा भी उल्लंघन,

रंचमात्र उल्लंघन भी, केवल गड़बड़ी पैदा करेगा और सारा सिलसिला ही बेकार हो जायगा।

यही बात आर्थिक विकास के नियमों, अर्थशास्त्र के नियमों के बारे में कही जानी चाहिये—वे नियम चाहे पूँजीवाद के युग के हों, चाहे समाजवाद के युग के। यहाँ भी आर्थिक विकास के नियम, प्राकृतिक विज्ञान के क्षेत्र की तरह, वस्तुगत नियम हैं, जो मनुष्य की इच्छा से स्वतंत्र पूरे होनेवाले आर्थिक विकास-क्रमों को प्रतिबिंबित करते हैं। इन्सान इन नियमों का पता लगा सकता है, उनसे परिचित हो सकता है, और उनका भरोसा करके समाज के हित में उन्हें इस्तेमाल कर सकता है, उनमें से कुछ नियमों की विनाशकारी दिशा को दूसरी ओर मोड़ सकता है, उनके कार्य-क्षेत्र को सीमित कर सकता है और अग्रसर होने वाले दूसरे नियमों को ज़्यादा अवसर दे सकता है; लेकिन वह उन्हें ख़त्म नहीं कर सकता, न नये नियम रच सकता है।

अर्थशास्त्र की अपनी एक विशेषता यह है कि प्राकृतिक विज्ञान के नियमों के विपरीत उसके नियम अस्थायी हैं, वे, या कम से कम उनमें से अधिकांश, एक निश्चित ऐतिहासिक युग तक लागू होते हैं और उसके बाद नये नियमों के लिये जगह ख़ाली कर देते हैं। फिर भी, वे नियम मंसूख़ नहीं किये जाते बल्कि नयी आर्थिक परिस्थितियों की वजह से अपनी सार्थकता खो देते हैं और नये नियमों को जगह देने के लिये—उन नियमों के लिये, जो इन्सान की इच्छा से नहीं रचे जाते बल्कि नयी आर्थिक परिस्थितियों से उत्पन्न होते हैं—रंगमंच ख़ाली कर देते हैं।

एंगेल्स की पुस्तक **ड्यूरिंग-मत-खंडन** का हवाला दिया जाता है, उनकी उस स्थापना का कि पूँजीवाद के ख़ात्मे और पैदावार के साधनों के समाजीकरण के बाद इन्सान अपने पैदावार के साधनों की बागडोर अपने हाथ में ले लेगा, वह सामाजिक और आर्थिक सम्बंधों के भार से मुक्त हो जायगा और अपने सामाजिक जीवन का "स्वामी" बन

जायगा। एंगेल्स ने इस मुक्ति को "आवश्यकताओं से परिचित होना" कहा है। और इस "आवश्यकताओं से परिचित होने" का मतलब क्या हो सकता है? इसका मतलब यह है कि वस्तुगत नियमों ("आवश्यकता") को जानने के बाद, इन्सान पूरी चेतना के साथ उन्हें समाज के हित में लागू करेगा। इसीलिये एंगल्स ने इसी पुस्तक में लिखा है :

> "तब इन्सान खुद अपनी सामाजिक कार्यवाही के नियमों को, जो अभी तक उस पर हावी होनेवाले बाहरी प्राकृतिक नियमों की तरह उसके सामने आये थे, पूरी जानकारी के साथ लागू करेगा और इसलिये उन पर हावी होगा।"

इससे ज़ाहिर है कि एंगेल्स की स्थापना क़तई उन लोगों के हक़ में नहीं है जो समझते हैं कि समाजवाद आने पर आर्थिक नियम मंसूख़ किये जा सकते हैं और नये नियम रचे जा सकते हैं। इसके विपरीत, समाजवाद की मांग है कि आर्थिक नियम समझे जायें और चतुराई से लागू किये जायँ, न कि मंसूख़ कर दिये जायँ।

कहा जाता है कि आर्थिक नियम सर्वशक्तिमान हैं, उनकी क्रिया रोकी नहीं जा सकती और समाज उनके सामने असमर्थ है। यह सच नहीं है। यह नियमों को जंतर-मंतर बना देना है और खुद को उनका गुलाम बना लेना है। यह सिद्ध हो चुका है कि नियमों के सामने समाज असमर्थ नहीं है, आर्थिक नियमों को जानने के बाद और उनका भरोसा करके, समाज उनके कार्य-क्षेत्र को सीमित कर सकता है, समाज के हित में उन्हें इस्तेमाल कर सकता है और उन्हें "क़ाबू में कर" सकता है—ठीक वैसे ही जैसे प्राकृतिक शक्तियों और उनके नियमों को, ठीक वैसे ही जैसे ऊपर की मिसाल में बड़ी नदियों के सैलाब को।

समाजवाद के निर्माण में सोवियत सरकार की विशेष भूमिका का हवाला दिया जाता है, कहा जाता है कि उस भूमिका की वजह से वह आर्थिक विकास के मौजूदा नियमों को मंसूख कर सकती है और नये नियम "रच" सकती है। यह भी असत्य है।

सोवियत सरकार की विशेष भूमिका दो परिस्थितियों के कारण थी: पहली यह कि सोवियत सरकार का काम एक तरह के शोषण के बदले दूसरी तरह का शोषण क़ायम करना नहीं था, जैसा कि पहले की क्रान्तियों में किया गया था, बल्कि उसका काम शोषण को ही निर्मूल कर देना था; दूसरी यह कि देश में समाजवादी अर्थतंत्र के कोई भी मूलतत्व तैयार न होने से उसे, कहना चाहिये, "जड़मूल से शुरू करके" अर्थतंत्र के नये, समाजवादी रूप रचने पड़े।

इसमें शक नहीं कि यह एक कठिन, पेचीदा और अनूठा काम था। फिर भी सोवियत सरकार ने इस काम को गौरव के साथ पूरा किया। लेकिन उसकी सफलता का कारण यह नहीं था कि उसने मौजूदा आर्थिक नियमों को मानो नष्ट कर दिया हो और नये नियम "रच" डाले हों, बल्कि सफलता का कारण केवल यह था कि उसने इस आर्थिक नियम का सहारा लिया कि पैदावार के सम्बंधों को **लाज़मी तौर से** उत्पादक शक्तियों के लक्षण से **मेल खाना ही चाहिये**। हमारे देश में, ख़ास तौर से उद्योग-धंधों में, उत्पादक शक्तियों का लक्षण सामाजिक था, दूसरी तरफ़ उनकी मिल्कियत का रूप व्यक्तिगत, पूंजीवादी था। इस आर्थिक नियम का भरोसा करके कि पैदावार के सम्बंधों को लाज़मी तौर से उत्पादक शक्तियों के लक्षण के अनुकूल होना ही चाहिये, सोवियत सरकार ने पैदावार के साधनों का समाजीकरण कर डाला, उन्हें तमाम जनता की सम्पत्ति बना दिया, और, इस तरह शोषण की व्यवस्था को निर्मूल कर दिया और अर्थतंत्र के समाजवादी रूपों का निर्माण किया। इस क़ानून के बिना, उसका भरोसा किये बिना, सोवियत सरकार अपनी भूमिका पूरी न कर पाती।

यह आर्थिक नियम कि पैदावार के सम्बंधों को लाज़मी तौर से उत्पादक शक्तियों के लक्षण के अनुकूल होना ही चाहिये, बहुत दिन से पूंजीवादी देशों में उभर-उभर कर सामने आ रहा है। अगर वह अभी तक खुले मैदान में नहीं आ सका है तो इसका कारण यह है कि उसे समाज की पुरानपंथी ताक़तों के तगड़े विरोध का सामना करना पड़ रहा है। यहाँ पर आर्थिक नियमों की एक दूसरी विशेषता दिखाई देती है। प्राकृतिक विज्ञान के नियमों के विपरीत, जहाँ पर एक नये नियम का पता लगाने और उसे लागू करने का काम बहुत कुछ सीधे-सीधे हो जाता है, आर्थिक क्षेत्र में एक नये नियम का पता लगाने और उसे लागू करने के काम को, जिसका असर समाज की पुरानपंथी ताक़तों के स्वार्थों पर पड़ता ही है, उनके बहुत ही तगड़े विरोध का सामना करना पड़ता है। इसलिये इस विरोध पर विजय पानेवाली ताक़त एक सामाजिक ताक़त, की ज़रूरत होती है। हमारे देश में मजदूर वर्ग और किसानों की एकता ऐसी ताक़त थी। समाज की भारी बहुसंख्या इन्हीं की थी। दूसरे देशों में, पूंजीवादी देशों में अभी तक ऐसी ताक़त नहीं है। इससे इस रहस्य पर प्रकाश पड़ता है कि सोवियत सरकार समाज की पुरानी ताक़तों का ध्वंस क्यों कर सकी और हमारे देश में इस आर्थिक नियम को, कि पैदावार के सम्बंधों को लाज़मी तौर से उत्पादक शक्तियों के लक्षण के अनुकूल होना ही चाहिये, क्यों पूरा अवसर मिला।

कहा जाता है कि हमारे देश में राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के संतुलित (सानुपात) विकास की आवश्यकता के कारण सोवियत सरकार मौजूदा आर्थिक नियमों को मंसूख़ कर सकती है और नये नियम रच सकती है। यह एकदम असत्य है। अपनी वार्षिक और पंचवर्षीय योजनाओं को राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के संतुलित, सानुपात विकास के वस्तुगत आर्थिक नियम से न उलझा देना चाहिये। पूँजीवाद में पैदावार की होड़ और अराजकता के नियम के विरोध में राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के संतुलित

विकास का नियम पैदा हुआ। होड़ और अराजकता के कानून के निरर्थक हो जाने के बाद पैदावार के साधनों के समाजीकरण से वह पैदा हुआ। वह इसलिये लागू हुआ कि राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के संतुलित विकास के आर्थिक नियम के आधार पर ही समाजवादी अर्थतंत्र चालू किया जा सकता है। इसका मतलब यह है कि राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के संतुलित विकास से हमारी योजना बनानेवाली संस्थाओं के लिये यह **मुमकिन** होता है कि वे सही तरीक़े से सामाजिक पैदावार की योजना बना सकें। लेकिन जो **मुमकिन** है, उसे **हक़ीक़त** न समझ बैठना चाहिये। ये दो अलग चीज़ें हैं। जो मुमकिन है उसे हक़ीक़त का रूप देने के लिये इस आर्थिक नियम का अध्ययन करना, उस पर हावी होना, उसे पूरी समझ-बूझ से लागू करना सीखना और इस नियम की ज़रूरतों को पूरी तरह प्रतिबिंबित करनेवाली योजनाएँ बनाना ज़रूरी है। यह नहीं कहा जा सकता कि हमारी वार्षिक और पंचवर्षीय योजनाएँ इस आर्थिक नियम की मांगों को पूरी तरह प्रतिबिंबित करती हैं।

कहा जाता है कि हमारे देश में समाजवाद के अन्तर्गत लागू होनेवाले कुछ आर्थिक नियम, जिनमें मूल्य का नियम भी है, योजना के मुताबिक़ चलनेवाले अर्थतंत्र के आधार पर, "तब्दील" किये जा चुके हैं, या "बुनियादी तौर से" भी "तब्दील" किये जा चुके हैं। यह भी असत्य है। नियम "तब्दील" नहीं किये जा सकते, "बुनियादी तौर से" तो और भी नहीं। अगर वे तब्दील किये जा सकते हैं तो मंसूख़ भी किये जा सकते हैं और उनकी जगह दूसरे नियम लागू किये जा सकते हैं। यह स्थापना कि नियम "तब्दील" किये जा सकते हैं, इस ग़लत धारणा का अवशेष है कि नियम "मंसूख़" किये जा सकते हैं या "रचे" जा सकते हैं। हालांकि यह स्थापना कि नियम तब्दील किये जा सकते हैं, हमारे देश में बहुत दिन से चालू रही है, फिर भी पूरी तरह ठीक न होने के कारण उसे त्याग देना चाहिये। किसी आर्थिक नियम का कार्य-क्षेत्र सीमित किया जा सकता है, उसकी विनाशकारी

क्रिया—यानी अगर वह विनाशकारी हो सकता है तो—टाली जा सकती है, लेकिन उसे "तब्दील" या "मंसूख़" नहीं किया जा सकता।

इसलिये जब हम प्राकृतिक शक्तियों या आर्थिक शक्तियों को "जीतने", उन पर "हावी होने" आदि की बात करते हैं, तब इसका यह मतलब नहीं होता कि मनुष्य वैज्ञानिक नियम "मंसूख़" कर सकता है या उन्हें "रच" सकता है। इसके विपरित, उसका मतलब यही होता है कि मनुष्य नियमों का पता लगा सकता है, उनसे परिचित हो सकता है और उन पर हावी हो सकता है, पूरी जानकारी से उन्हें लागू करना सीख सकता है, समाज के हित में उन्हें इस्तेमाल कर सकता है और इस तरह उन्हें जीत सकता है और उन पर प्रभुत्व हासिल कर सकता है।

इसलिये समाजवाद में अर्थशास्त्र के नियम वस्तुगत नियम हैं जो इस बात को प्रतिबिंबित करते हैं कि आर्थिक जीवन के क्रम, नियमों से अनुशासित हैं और हमारी इच्छा से स्वतंत्र काम करते हैं। जो लोग इस धारणा से इन्कार करते हैं, वे दरअसल विज्ञान से ही इन्कार करते हैं और विज्ञान से इन्कार करके वे पेशीनगोई की संभावना से इन्कार करते हैं—और, फलतः, आर्थिक कार्यवाही का निर्देश करने की संभावना से इन्कार करते हैं।

कहा जा सकता है कि यह सब ठीक है और आम तौर से जाना-बूझा है; लेकिन उसमें नया कुछ भी नहीं है और इसलिये आम तौर से जाने-बूझे सत्य को दोहराने में वक़्त लगाना बेकार है। यह ठीक है कि दरअसल इसमें नया कुछ नहीं है; लेकिन यह सोचना भूल है कि ऐसे सत्य दोहराना बेकार है जो आम तौर से जाने-बूझे हुए हैं। हक़ीक़त यह है कि हमारे साथ, अगुआई करनेवाली केन्द्रीय शक्ति के साथ, हर साल हज़ारों नये और तरुण लोग आते हैं जिनके हृदय में यह प्रबल कामना रहती है कि वे हमारी मदद करें और जिनके हृदय में यह प्रबल कामना रहती है कि वे अपना जौहर दिखायें लेकिन जिनके पास काफ़ी

मार्क्सवादी शिक्षा नहीं होती, जो उन बहुत सी सचाइयों से अपरिचित हैं जिन्हें हम बखूबी जानते हैं, और इसलिये उन्हें मजबूर होकर अँधेरे में टटोलना पड़ना है। सोवियत सरकार की विराट सफलताएँ देखकर वे चकित रह जाते हैं, सोवियत व्यवस्था की अनुपम सफलताओं से वह चमत्कृत हो जाते हैं और वे कल्पना करने लगते हैं कि सोवियत सरकार "कुछ भी कर" सकती है, "कोई भी चीज उसकी शक्ति के बाहर नहीं है", वह वैज्ञानिक नियम संसृख कर सकती है और नये रच सकती है। इन साथियों से हम कैसे पेश आयें? मार्क्सवाद-लेनिनवाद में हम उन्हें कैसे शिक्षित करें? मेरा विचार है कि इन साथियों को मार्क्सवाद में शिक्षित करने का एक बहुत ही अच्छा तरीक़ा तथाकथित "आम तौर से जानी-बूझी" सचाइयों को बाक़ायदा और धीरज के साथ दोहराना है।

२. समाजवाद में बिकाऊ माल की पैदावार

कुछ साथियों का कहना है कि सत्ता हाथ में आने के बाद और देश में पैदावार के साधनों का राष्ट्रीकरण करने के बाद पार्टी ने यह गलत किया कि बिकाऊ माल की पैदावार को सुरक्षित रहने दिया। उनका विचार है कि पार्टी को तुरत और तभी बिकाऊ माल की पैदावार पर रोक लगा देनी चाहिये थी। इस सिलसिले में वह एंगेल्स का उद्धरण देते हैं, जिनका कहना है :

"समाज जब पैदावार के साधनों को अपने हाथ में कर लेता है तो बिकाऊ माल की पैदावार बन्द हो जाती है और उसके साथ ही तैयार की हुई वस्तु का तैयार करने वाले पर हावी होना खत्म हो जाता है।" (देखिये, **ड्यूरिंग-मत-खंडन**)

ये साथी बड़े गहरे भ्रम में हैं।

एंगेल्स की स्थापना को देखना चाहिये। एंगेल्स की स्थापना पूरी तरह से दुरुस्त और साफ़ नहीं समझी जा सकती, इसलिये कि उससे यह पता नहीं लगता कि उसमें समाज द्वारा पैदावार के **सभी** साधनों या सिर्फ़ उनमें से कुछ को हाथ में करने का ज़िक्र है यानी पैदावार के **सभी** साधन या उनमें से सिर्फ़ कुछ सामाजिक सम्पत्ति में तब्दील किये जाते हैं। इसलिये एंगेल्स की **यह** व्याख्या किसी भी रूप में समझी जा सकती है।

ड्यूरिंग-मत-खंडन में दूसरी जगह एंगेल्स ने "पैदावार के **सभी** साधनों" को हाथ में करने, "पैदावार के **सभी** साधनों" पर अधिकार करने की बात कही है। इसलिये इस स्थापना में एंगेल्स के दिमाग़ में पैदावार के सिर्फ़ कुछ साधनों के नहीं बल्कि सभी के राष्ट्रीकरण की बात है यानी न सिर्फ़ उद्योग-धंधों बल्कि खेती की भी पैदावार के साधनों को सामाजिक सम्पत्ति में तब्दील करने की बात है।

इससे नतीजा निकलता है कि एंगेल्स के दिमाग़ में उन देशों की बात है जहाँ पर उद्योग-धंधों और खेती दोनों में, पूँजीवाद और पैदावार का केन्द्रीकरण इतना काफ़ी बढ़ गये हैं कि देश में पैदावार के **सभी** साधन हाथ में लिये जा सकते हैं और सामाजिक सम्पत्ति में तब्दील किये जा सकते हैं। इसलिये एंगेल्स का विचार है कि **ऐसे** देशों में पैदावार के **सभी** साधनों के समाजीकरण के साथ साथ बिकाऊ माल की पैदावार भी बन्द कर देना चाहिये। और ज़ाहिर है कि यह ठीक ही है।

पिछली सदी के ख़ात्मे के वक़्त, जब **ड्यूरिंग-मत-खंडन** प्रकाशित हुआ था, ऐसा एक ही देश था—ब्रिटेन। वहां पर उद्योग-धंधों और खेती दोनों में पूँजीवाद का विकास और पैदावार का केन्द्रीकरण इस हद तक हो चुके थे कि सर्वहारा वर्ग के हाथ में ताक़त आने पर यह मुमकिन होता कि देश में पैदावार के **सभी** साधनों को सामाजिक

सम्पत्ति में तब्दील कर दिया जाय और बिकाऊ माल की पैदावार बन्द कर दी जाय।

मैं इस मिसाल में इस सवाल को छोड़ देता हूँ कि ब्रिटेन के लिये वैदेशिक व्यापार का महत्व क्या है और उसकी राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में वह कितनी बड़ी भूमिका अदा करता है। मैं समझता हूं कि इस सवाल की पूरी जाँच-पड़ताल करने के बाद ही इस बात का आखिरी फैसला किया जा सकता है कि सर्वहारा वर्ग द्वारा सत्ता हाथ में लेने पर और पैदावार के **सभी** साधनों का राष्ट्रीकरण करने के बाद बिकाऊ माल की पैदावार का भविष्य ब्रिटेन में क्या होगा।

फिर भी, न सिर्फ़ पिछली सदी के खात्मे के वक़्त बल्कि आज भी, किसी भी देश की खेती में पूँजीवाद का इतना विकास और पैदावार का केन्द्रीकरण उस हद तक नहीं हुआ, जितना ब्रिटेन में। जहाँ तक दूसरे देशों का सवाल है, देहात में पूँजीवाद के विकास के बावजूद, वहां पर अब भी छोटे और मंझोले देहाती मालिक उत्पादकों की बहुत बड़ी तादाद है, जिनके भविष्य का, अगर सर्वहारा वर्ग सत्ता ग्रहण करे तो, निर्णय करना होगा।

लेकिन यहाँ पर एक सवाल उठता है: सर्वहारा वर्ग और उसकी पार्टी उन देशों में क्या करे, और हमारा देश ऐसा ही है, जहाँ पर पूंजीवाद को ख़त्म करने और सर्वहारा वर्ग द्वारा सत्ता हाथ में करने के लिये परिस्थितियाँ अनुकूल हैं, जहाँ पर पूँजीवाद ने उद्योग-धंधों में पैदावार के साधनों को इस तरह केन्द्रित किया है कि उन पर कब्ज़ा किया जा सकता है और वे सामाजिक सम्पत्ति बनाये जा सकते हैं लेकिन जहाँ पर पूँजीवाद की बढ़ती के बावजूद खेती एक बहुत बड़ी तादाद के छोटे और मंझोले मालिक उत्पादकों में इस हद तक बँटी हुई है कि इन उत्पादकों को हाथ में करने की बात सोचना असंभव है?

एंगेल्स की स्थापना इस सवाल का जवाब नहीं देती है। और इसका जवाब देना उसका उद्देश्य था भी नहीं क्योंकि वह एक दूसरे सवाल से

पैदा हुआ था, यानी इससे कि पैदावार के **सभी** साधनों के समाजीकरण के बाद बिकाऊ माल की पैदावार का परिणाम क्या होगा।

और तब क्या किया जाय जब कि पैदावार के **सभी** साधनों का **नहीं**, बल्कि उनमें से कुछ का ही समाजीकरण हुआ हो, फिर भी सर्वहारा वर्ग द्वारा सत्ता हाथ में करने के लिये परिस्थितियाँ अनुकूल हों? क्या सर्वहारा वर्ग को सत्ता हाथ में लेना चाहिये और क्या तुरत इसके बाद बिकाऊ माल की पैदावार बन्द कर देना चाहिये?

ज़ाहिर है, उन अधपके मार्क्सवादियों की राय को जवाब नहीं माना जा सकता जिनका ख़याल था कि ऐसी हालत में करना यह चाहिये कि सत्ता हाथ में न लेनी चाहिये और तब तक इन्तज़ार करना चाहिये जब तक कि पूँजीवाद लाखों छोटे और मंझोले उत्पादकों को तबाह न कर दे और उन्हें खेत मज़दूर न बना दे और खेती में पैदावार के साधनों को केन्द्रित न कर दे, और इसके बाद ही यह मुमकिन होगा कि सत्ता सर्वहारा वर्ग के हाथ में करने और पैदावार के **सभी** साधनों के समाजीकरण की बात सोची जाय। यह स्वाभाविक है कि मार्क्सवादी अगर अपने मुँह पर कालिख ही पोतने पर न तुल गये हों, तो इस तरह का "हल" वे स्वीकार नहीं कर सकते।

न उन दूसरे अधपके मार्क्सवादियों की राय को जवाब माना जा सकता है जो समझते हैं कि करना यह चाहिये कि सत्ता हाथ में ले लेनी चाहिये और देहात के छोटे और मंझोले उत्पादकों की सम्पत्ति छीन लेनी चाहिये और उनके पैदावार के साधनों का समाजीकरण कर डालना चाहिये। मार्क्सवादी इस बेहूदे और मुजरिमाना रास्ते पर भी नहीं चल सकते क्योंकि समाजवादी क्रान्ति की विजय की तमाम संभावनाएँ इससे ख़त्म हो जायेंगी और किसान बहुत दिनों के लिये सर्वहारा वर्ग के दुश्मनों के ख़ेमे में ढकेल दिये जायेंगे।

इस सवाल का जवाब "ग़ल्ले के रूप में टैक्स" पर अपनी रचनाओं में और अपने प्रसिद्ध "सहकारी योजना" में लेनिन ने दिया था।

लेनिन के जवाब को बहुत संक्षेप में यों रखा जा सकता है :

(क) सत्ता हाथ में लेने की अनुकूल परिस्थितियों को छोड़ना न चाहिये—सर्वहारा वर्ग को तब तक के लिये इन्तज़ार न करना चाहिये जब तक कि पूँजीवाद लाखों अलग-थलग छोटे और मंझोले उत्पादकों को तबाह करने में सफल न हो जाय;

(ख) उद्योग-धंधों में पैदावार के साधनों को ज़ब्त कर लेना चाहिये और उन्हें सामाजिक सम्पत्ति बना देना चाहिये;

(ग) जहाँ तक छोटे और मंझोले अलग-थलग उत्पादकों का सम्बंध है, उन्हें धीरे-धीरे उत्पादकों की सहकारी समितियों में संगठित करना चाहिये यानी बड़े-बड़े कृषि-धंधों में, पंचायती खेतों में संगठित करना चाहिये;

(घ) उद्योग-धंधों का भरसक विकास करना चाहिये और पंचायती खेतों को बड़े पैमाने की पैदावार के आधुनिक कौशलवाले आधार पर चलाना चाहिये, उन्हें ज़ब्त न करना चाहिये, बल्कि उल्टा उन्हें उदारता से सर्वोत्तम ट्रैक्टर और दूसरी मशीनें देना चाहिये;

(च) शहर और देहात, उद्योग-धंधों और खेती के बीच में आर्थिक सम्बंध बनाये रखने के लिये बिकाऊ माल की पैदावार (ख़रीदने और बेचने के ज़रिये विनिमय) को कुछ समय तक के लिये क़ायम रखना चाहिये क्योंकि शहर के साथ यह **एकमात्र** आर्थिक सम्बंध है जो किसानों को **मान्य** होगा, और सोवियत व्यापार—राज्य द्वारा व्यापार, सहकारी व्यापार और पंचायती खेतों द्वारा व्यापार—का पूरी तरह विकास करना चाहिये और व्यापार के क्षेत्र से हर क़िस्म और हर प्रकार के पूँजीपतियों को बाहर कर देना चाहिये।

हमारे देश में समाजवादी निर्माण के इतिहास ने दिखा दिया है कि लेनिन का बनाया हुआ विकास का यह रास्ता पूरी तरह सही साबित हुआ है।

इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं कि उन सभी पूँजीवादी देशों में जहाँ छोटे और मंझोले उत्पादकों की बहुत कुछ बड़ी तादाद है, समाजवाद की विजय के लिये विकास का यही रास्ता संभव और उपयोगी है।

कहा जाता है कि सभी परिस्थितियों में बिकाऊ माल की पैदावार से फिर भी पूँजीवाद पैदा होगा, पैदा होना ही चाहिये। यह सच नहीं है। हमेशा नहीं और न सभी परिस्थितियों में! बिकाऊ माल की पैदावार और पूँजीवादी पैदावार को एक न समझ बैठना चाहिये। ये दो अलग चीजें हैं। पूँजीवादी पैदावार बिकाऊ माल की पैदावार का सबसे ऊँचा रूप है। बिकाऊ माल की पैदावार से पूँजीवाद तभी पैदा होता है **जब** पैदावार के साधनों की व्यक्तिगत मिल्कियत हो, **जब** बाज़ार में श्रम-शक्ति बिकाऊ माल की तरह आये जिसे पूँजीपति ख़रीद सके और पैदावार के क्रम में उसका शोषण कर सके और फलतः **जब** देश में पूँजीपतियों द्वारा मजूरी कमानेवाले मज़दूरों का शोषण मौजूद हो। पूँजीवादी पैदावार तब शुरू होती है जब पैदावार के साधन चन्द लोगों के हाथों में केन्द्रित होते हैं और जब मज़दूरों के पास पैदावार के साधन नहीं होते और उन्हें मजबूरन अपनी श्रम-शक्ति को बिकाऊ माल की तरह बेचना पड़ता है। इसके बिना पूँजीवादी पैदावार जैसी कोई चीज नहीं हो सकती।

और अगर बिकाऊ माल की पैदावार को पूँजीवादी पैदावार में तब्दील करने की परिस्थितियाँ मौजूद न हों, अगर पैदावार के साधन व्यक्तिगत न रहकर समाजवादी सम्पत्ति बन गये हों, अगर मजूरी कमाने वाली मज़दूरी का सिलसिला ख़त्म हो गया हो और श्रम-शक्ति बिकाऊ माल न रह गयी हो और शोषण-व्यवस्था कभी की अन्त हो गयी हो तब क्या किया जाय,—तब क्या यह बात सोची जा सकती है कि बिकाऊ माल से फिर भी पूँजीवाद पैदा हो जायगा? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। फिर भी, हमारा समाज बिलकुल ऐसा ही समाज है जहाँ पर पैदावार के साधनों की व्यक्तिगत मिल्कियत, मजूरी कमाने

वाली मज़दूरी का सिलसिला, और शोषण की व्यवस्था कभी के ख़त्म हो चुके हैं।

यह न समझना चाहिये कि बिकाऊ माल की पैदावार अपने में कोई पूर्ण चीज़ है, ऐसी चीज़ जो अपने चारों तरफ़ की आर्थिक परिस्थितियों से मुक्त हो। बिकाऊ माल की पैदावार पूँजीवादी पैदावार से पुरानी है। वह दास-प्रथा वाले समाज में थी लेकिन उससे पूँजीवाद पैदा नहीं हुआ। वह सामन्ती समाज में थी और उसकी सेवा करती रही, फिर भी, हालाँकि उसने पूंजीवादी पैदावार के लिये कुछ परिस्थितियाँ तैयार कीं, उससे पूँजीवाद पैदा नहीं हुआ। तब यह पूछा जा सकता है कि उसी तरह बिकाऊ माल की पैदावार कुछ समय के लिये पूँजीवाद को जन्म दिये बिना हमारे सोशलिस्ट समाज की सेवा क्यों नहीं कर सकती? और यह ध्यान रखना चाहिये कि हमारे देश में बिकाऊ माल की पैदावार इतनी व्यापक और विशाल नहीं है जितनी कि वह पूँजीवादी परिस्थितियों में है। हमारे देश में वह नपी-तुली सीमाओं में बन्द रहती है क्योंकि हमारे यहाँ ऐसी निर्णयकारी आर्थिक परिस्थितियां हैं जैसे : पैदावार के साधनों की सामाजिक मिल्कियत, मजूरी कमाने वाली मज़दूरी के सिलसिले का ख़ात्मा, और शोषण की व्यवस्था का अन्त।

कहा जाता है कि चूँकि हमारे देश में पैदावार के साधनों पर सामाजिक मिल्कियत हावी हो चुकी है और मजूरी कमाने वाली मज़दूरी का सिलसिला और शोषण की व्यवस्था ख़त्म हो चुके हैं, इसलिये बिकाऊ माल की पैदावार अब निरर्थक हो गयी है और फलतः उसे ख़त्म कर देना चाहिये।

यह भी असत्य है। आज हमारे देश में समाजवादी पैदावार के दो बुनियादी रूप हैं : राज्य, या सामाजिक मिल्कियत की पैदावार और पंचायती खेती की पैदावार, जिसे सामाजिक मिल्कियत की चीज़ नहीं कहा जा सकता। राज्य के धंधों में पैदावार के साधन और पैदा की हुई चीज़

राष्ट्रीय सम्पत्ति हैं। पंचायती खेत में हालांकि पैदावार के साधन (ज़मीन, मशीनें) राज्य की सम्पत्ति ज़रूर हैं, लेकिन पैदा की हुई चीज़ अलग-अलग पंचायती खेतों की सम्पत्ति होती है। इसका कारण यह है कि मेहनत और बीज उनके अपने हैं जब कि ज़मीन पंचायती खेतों को हमेशा की काश्त के लिये दे दी गयी है; उसे वे हक़ीक़त में अपनी सम्पत्ति की ही तरह इस्तेमाल करते हैं हालाँकि वे उसे बेच, ख़रीद, उठा या गिरवीं नहीं रख सकते।

इसका नतीजा यह होता है कि राज्य सिर्फ़ राज्य के धंधों की उपज का निपटारा कर सकता है जब कि पंचायती खेतों की उपज का निपटारा, चूँकि वह उनकी सम्पत्ति होती है, वे ही कर सकते हैं। लेकिन पंचायती खेत बिकाऊ माल के रूप के अलावा अपनी उपज को दूसरे के हाथ में देने के लिये तैयार नहीं हैं। उसके बदले वे अपनी ज़रूरत का बिकाऊ माल चाहते हैं। मौजूदा वक्त में पंचायती खेत शहर के साथ बिकाऊ माल के सम्बंध के अलावा—बेचने और ख़रीदने के ज़रिये विनिमय के अलावा—और कोई सम्बंध न मानेंगे। इस वजह से बिकाऊ माल की पैदावार और व्यापार हमारे लिये आज भी उतने ही ज़रूरी हैं जितने वे तीस साल पहले थे, मसलन जब लेनिन ने व्यापार को अधिकतम विकसित करने की ज़रूरत के बारे में कहा था।

निस्सन्देह जब पैदावार के दो बुनियादी क्षेत्रों के बदले—राज्य का क्षेत्र और पंचायती खेती का क्षेत्र—पैदावार का एक ही व्यापक क्षेत्र होगा जो इस्तेमाल में आनेवाले देश के तमाम माल की उपज का निपटारा करने का हक़ रखेगा, तब बिकाऊ माल का चलन, अपनी "मुद्रावाली व्यवस्था" के साथ ख़त्म हो जायगा क्योंकि राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में वह एक निरर्थक चीज़ होगा। लेकिन जब तक ऐसा नहीं होता, जब तक पैदावार के दोनों बुनियादी क्षेत्र क़ायम रहते हैं, तब तक बिकाऊ माल की पैदावार और बिकाऊ माल का चलन भी क़ायम

रहेगा क्योंकि वह हमारी राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में एक जरूरी और बहुत ही लाभदायक चीज़ है। एकमात्र और संयुक्त क्षेत्र कैसे बनेगा, क्या राज्य का क्षेत्र पंचायती खेती के क्षेत्र को सीधे हड़प लेगा—जो बहुत ही कम संभव है (क्योंकि यह पंचायती खेतों का जब्त करना समझा जायगा)—या एकमात्र **राष्ट्रीय** आर्थिक संस्था क़ायम की जायगी (जिसमें राज्य के उद्योग-धंधों के और पंचायती खेतों के प्रतिनिधि शामिल होंगे), जिसे पहले तो यह हक़ होगा कि इस्तेमाल में आनेवाले देश के तमाम माल की उपज का हिसाब रखे और आगे चलकर उसको उसे बाँटने का भी, मसलन उत्पादन के विनिमय के द्वारा, हक होगा? यह एक विशेष सवाल है जिस पर अलग से विचार करना होगा।

मतलब यह कि बिकाऊ माल की **हमारी** पैदावार मामूली तरह की नहीं है, बल्कि एक खास तरह की बिकाऊ माल की पैदावार है, बिकाऊ माल की ऐसी पैदावार है जिसमें पूँजीपति नहीं हैं, जिसका सम्बंध मुख्यतः उस माल से है जिसे एक दूसरे से सम्बद्ध समाजवादी उत्पादक (राज्य, पंचायती खेत, सहकारी संस्थाएँ) तैयार करते हैं, जिनका व्यापार-क्षेत्र लोगों की निजी इस्तेमाल की चीज़ों तक सीमित है, जो जाहिर है पूँजीवादी पैदावार में विकसित नहीं हो सकता और जो अपनी "मुद्रावाली व्यवस्था" के साथ इसी उद्देश्य के लिये रखा गया है कि समाजवादी पैदावार को विकसित और दृढ़ करे।

इसलिये वे साथी क़तई गुमराह हैं जो कहते हैं कि चूँकि सोशलिस्ट समाज ने पैदावार के बिकाऊ माल वाले रूपों को खत्म नहीं किया है, इसलिये हमारे यहां भी वही आर्थिक श्रेणियां पैदा हो जायेंगी जो पूँजीवाद की विशेषता हैं: बिकाऊ माल के रूप में श्रम-शक्ति, अतिरिक्त मूल्य, पूँजी, पूँजीवादी मुनाफ़ा, मुनाफ़े की औसत दर, वग़ैरह। ये साथी बिकाऊ माल की पैदावार को पूंजीवादी पैदावार से उलझा देते हैं और समझते हैं कि जहां एक बार बिकाऊ माल की पैदावार

शुरू हुई कि बस पूँजीवादी पैदावार आई। वे यह नहीं समझते कि बिकाऊ माल की हमारी पैदावार पूँजीवाद के अंतर्गत बिकाऊ माल की पैदावार से बुनियादी तौर पर भिन्न है।

और भी, मेरे विचार से हमें कुछ और भी धारणाएँ छोड़ देनी चाहिये जो मार्क्स के ग्रंथ **पूंजी** से ली गयी हैं—जहां मार्क्स का उद्देश्य पूँजीवाद का विश्लेषण करना था—और नक़ली तौर से हमारे समाजवादी सम्बंधों पर चस्पां कर दी गयी हैं। मेरा इशारा ऐसी धारणाओं से है, जो बहुतों में से कुछ ये हैं: "आवश्यक" और "अतिरिक्त" श्रम, "आवश्यक" और "अतिरिक्त" उत्पादन, "आवश्यक" और "अतिरिक्त" समय। मार्क्स ने पूँजीवाद का विश्लेषण इसलिये किया था कि मज़दूर वर्ग के शोषण की जड़ पर—अतिरिक्त मूल्य पर—प्रकाश डाला जाय और मज़दूर वर्ग को, जो पैदावार के साधनों से हीन था, पूँजीवाद की पराजय के लिये एक बौद्धिक अस्त्र से लैस कर दिया जाय। यह स्वाभाविक है कि मार्क्स ने ऐसी धारणाओं (श्रेणियों) का प्रयोग किया है जो पूँजीवादी सम्बंधों के पूरी तरह अनुरूप थीं। लेकिन और नहीं तो यह ताज्जुब की बात ज़रूर है कि इन धारणाओं का प्रयोग अब भी जारी है, जब यही नहीं कि मज़दूर वर्ग सत्ता और पैदावार के साधनों से हीन नहीं है, बल्कि इसके विपरीत, सत्ता उसके हाथ में है और पैदावार के साधन उसके अधिकार में हैं। हमारी व्यवस्था में श्रम-शक्ति के बिकाऊ माल होने और मज़दूरों को "भाड़े पर लाने" की बातें अब कुछ बेसिर-पैर की मालूम होती हैं: मानो मज़दूर वर्ग, जिसके हाथ में पैदावार के साधन हैं, अपने को भाड़े पर देता है और अपनी श्रम-शक्ति अपने ही को बेच देता है। "आवश्यक" और "अतिरिक्त" श्रम की बात करना भी उतना ही आश्चर्यजनक है: मानो हमारी परिस्थितियों में पैदावार के प्रसार के लिये, शिक्षा और सामाजिक स्वास्थ्य की उन्नति के लिये, रक्षा के संगठन के लिये, मज़दूर वर्ग समाज को जो श्रम देता है, वह

आज के सत्तारूढ़ मज़दूर वर्ग के लिये उतना ही आवश्यक नहीं है जितना कि वह श्रम जो कि मज़दूर और उसके परिवार की निजी ज़रूरतों के लिये सर्फ़ किया जाता है।

यहाँ पर ध्यान देना चाहिये कि अपनी रचना **गोथा कार्यक्रम की आलोचना** में, जहाँ मार्क्स पूँजीवाद की ही छानबीन नहीं कर रहे हैं, बल्कि दूसरी बातों में, कम्युनिस्ट समाज के पहले दौर की छानबीन भी कर रहे हैं, उन्होंने स्वीकार किया है कि पैदावार के प्रसार के लिये, शिक्षा और सामाजिक स्वास्थ्य के लिये, शासन के ख़र्च के लिये, रिज़र्व कायम करने आदि के लिये, समाज को दिया हुआ श्रम उतना ही ज़रूरी है जितना कि मज़दूर वर्ग के अपने ख़र्च के सामान को जुटाने के लिये दिया हुआ श्रम।

मैं समझता हूँ कि पुरानी धारणाओं के बदले नयी परिस्थितियों के अनुरूप नयी धारणाएँ चालू करके हमारे अर्थशास्त्रियों को हमारे समाजवादी देश की नयी हालत और पुरानी शब्दावली की असंगति को दूर कर देना चाहिये।

इस असंगति को हम कुछ दिन के लिये बर्दाश्त कर सकते थे, लेकिन उसे ख़त्म करने का समय अब आ गया है।

३. समाजवाद में मूल्य का नियम

कभी कभी यह सवाल किया जाता है कि समाजवादी व्यवस्था में, हमारे देश में, मूल्य का नियम है और लागू होता है या नहीं।

हाँ, यह नियम है और लागू होता है। जहां भी बिकाऊ माल और बिकाऊ माल की पैदावार होती है, वहां मूल्य का नियम भी होना चाहिये।

हमारे देश में मूल्य के नियम का व्यापार-क्षेत्र सबसे पहले बिकाऊ माल के चलन, ख़रीद-फ़रोख़्त के ज़रिये बिकाऊ माल के विनिमय, मुख्य रूप से निजी मसरफ़ की चीज़ों के विनिमय तक फैला हुआ है। यहां पर, इस क्षेत्र में, बेशक किन्हीं सीमाओं के अन्दर मूल्य का नियम एक नियामक (रेग्यूलेटर) का काम करता है।

लेकिन मूल्य के नियम की क्रिया बिकाऊ माल के चलन के दायरे में सीमित नहीं है। वह पैदावार पर भी लागू होता है। यह ठीक है कि समाजवादी पैदावार में मूल्य का नियम नियामक का काम नहीं करता, फिर भी वह पैदावार पर असर डालता है और पैदावार का निर्देश करते हुए इस बात को नज़रअन्दाज नहीं किया जा सकता। दरअसल वह इस्तेमाल में आने वाला माल, जो पैदावार के सिलसिले में सर्फ़ होने वाली श्रम-शक्ति के लिये मुआवज़े के तौर पर ज़रूरी होता है, हमारे देश में बिकाऊ माल की तरह पैदा किया जाता है और वसूल किया जाता है जिस पर मूल्य का नियम लागू होता है। ठीक यही वह मुक़ाम है जहां मूल्य का नियम पैदावार पर अपना असर डालता है। इस सिलसिले में ऐसी चीज़ें जैसे क़ीमत का हिसाब और लाभ की बात, पैदावार का ख़र्च, क़ीमत, वग़ैरह, हमारे धंधों में एक यथार्थ महत्व रखती हैं। फलतः, मूल्य के नियम का ध्यान रखे बिना हमारे धंधे न चल सकते हैं, न उन्हें चलना चाहिये।

क्या यह चीज़ अच्छी है? यह चीज़ बुरी नहीं है। आज की हालत में यह सचमुच बुरी चीज नहीं है क्योंकि यह हमारे कार्य-निर्देशकों (बिज़िनेस एक्ज़ीक्यूटिव) को बुद्धिसंगत रास्ते पर पैदावार चलाने की शिक्षा देती है और उन्हें अनुशासित करती है। यह बुरी चीज़ नहीं है क्योंकि यह उन्हें पैदावार के विशद रूप का हिसाब रखना, उसका दुरुस्त हिसाब रखना और पैदावार की यथार्थ चीज़ों का ठीक-ठीक हिसाब लगाना सिखलाती है, न कि यह, कि वे "लगभग आँकड़ों" का

हवाई जमा-ख़र्च किया करें। यह चीज़ बुरी नहीं है इसलिये कि यह हमारे कार्य-निर्देशकों को यह सिखाती है कि वे पैदावार में छिपे हुए स्रोत ढूँढें, उन्हें हासिल करें और काम में लायें, न कि उन्हें पैरों तले रौंदें। यह बुरी चीज़ नहीं है क्योंकि यह हमारे कार्य-निर्देशकों को बाक़ायदा पैदावार के तरीक़े सुधारना, पैदावार के ख़र्च में कमी करना, क़ीमत का हिसाब रखने का अभ्यास करना और उनके धंधों को लाभदायक बनाना सिखाती है। वह एक अच्छा अमली मदरसा है जो हमारे निर्देशकों के विकास और उनकी बढ़ती की गति को तीव्र कर देता है और विकास की मौजूदा मंज़िल में वे समाजवादी पैदावार के वास्तविक नेता बन सकते हैं।

मुसीबत यह नहीं है कि हमारे देश में मूल्य का नियम पैदावार पर असर डालता है। मुसीबत यह है कि हमारे कार्य-निर्देशक और योजना बनाने वाले, कुछ अपवादों को छोड़कर, मूल्य के नियम की हरकतों को बहुत कम जानते-पहचानते हैं, उनका अध्ययन नहीं करते और अपने हिसाब-किताब में उनका ध्यान नहीं रख पाते। यही कारण है कि क़ीमतें क़ायम करने के मामले में अब भी इतनी उलझन होती है। बहुत सी मिसालों में से एक यह है। कुछ दिन हुए, रुई पैदा करने के हित में अनाज और रुई की क़ीमतें दुरुस्त करने, रुई उगानेवालों के लिये अनाज की और भी दुरुस्त कीमतें कायम करने और राज्य को दी जानेवाली रुई का भाव चढ़ाने का फ़ैसला किया गया। हमारे कार्य-निर्देशकों और आयोजकों ने इस पर एक मसौदा रखा जिससे केन्द्रीय समिति के सदस्य चकित हो गये क्योंकि उसमें यह सुझाव था कि एक टन अनाज की लगभग वही क़ीमत हो जो एक टन कपास की, और भी यह कि एक टन अनाज की क़ीमत एक टन पकी हुई रोटी के बराबर आँकी गयी थी। केन्द्रीय समिति के सदस्यों ने कहा कि एक टन अनाज से एक टन रोटी की क़ीमत ज़्यादा होनी चाहिये क्योंकि पीसने और पकाने में अलग से ख़र्च पड़ता है और कपास आम तौर से अनाज से बहुत ज़्यादा महँगी होती है जैसा कि दुनिया के बाज़ार में उनकी

क़ीमतों से पता चलता है। इसके जवाब में प्रस्ताव करनेवाले कोई भी तुक की बात न कह सके। इसलिये केन्द्रीय समिति को मजबूर होकर इस मामले को अपने हाथ में लेना पड़ा और अनाज की क़ीमत कम करनी पड़ी और कपास की क़ीमत चढ़ानी पड़ी। इन साथियों के प्रस्तावों को अगर क़ानूनी ताक़त हासिल हो जाती तो क्या नतीजा होता? हम कपास उगानेवालों को तबाह कर देते और बिना रुई के रह जाते।

लेकिन क्या इसका यह मतलब है कि मूल्य का नियम हमारे यहाँ भी उतने ही क्षेत्र में काम करता है जितने में कि पूँजीवाद में और क्या वह हमारे देश में भी पैदावार का नियामक है? नहीं, यह मतलब नहीं है। दरअसल हमारी अर्थ-व्यवस्था में मूल्य के नियम का क्षेत्र कड़ाई से सीमित है और निश्चित हदों में रखा जाता है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि बिकाऊ माल की पैदावार का क्षेत्र सीमित है और हमारी व्यवस्था द्वारा निश्चित हदों में रखा जाता है। मूल्य के नियम के क्षेत्र के बारे में भी यही बात कही जानी चाहिये। इसमें शक नहीं कि पैदावार के साधनों की व्यक्तिगत मिल्कियत का न होना और शहर और देहात दोनों में पैदावार के साधनों का समाजीकरण, मूल्य के नियम के क्षेत्र और पैदावार पर उसके प्रभाव की सीमा को संकुचित किये बिना नहीं रह सकता।

राष्ट्रीय अर्थतंत्र के संतुलित (सानुपात) विकास का नियम, जो होड़ और पैदावार की अराजकता के नियम की जगह ले चुका है, इसी दिशा में काम करता है।

हमारी वार्षिक और पंचवर्षीय योजनाएँ और आम तौर से हमारी आर्थिक नीति भी, जो राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के संतुलित विकास के नियम की जरूरतों पर आधारित होती हैं, इसी दिशा में विकास करती हैं।

कुल मिलाकर इस सब का असर यह होता है कि हमारे देश में मूल्य के नियम का क्षेत्र बहुत ही सीमित है और हमारी व्यवस्था में मूल्य का नियम पैदावार के नियामक का काम नहीं कर सकता।

दरअसल इसी से इस "मार्के की" बात का रहस्य खुलता है कि हमारे देश में तो मूल्य का नियम, समाजवादी पैदावार के लगातार और तेज़ प्रसार के बावजूद, अति-पैदावार के संकट नहीं लाता लेकिन पूँजीवादी देशों में यही क़ानून, जिसका व्यापार-क्षेत्र पूँजीवाद में बहुत विस्तृत होता है, पैदावार के प्रसार की धीमी रफ़्तार के बावजूद, अति-पैदावार के समय समय पर आनेवाले संकट लाता ही है।

कहा यह जाता है कि मूल्य का नियम एक स्थायी नियम है जो ऐतिहासिक विकास के सभी दौरों पर लागू होता है और अगर कम्युनिस्ट समाज के दूसरे दौर में वह विनिमय-सम्बंधों के नियामक का काम छोड़ देता है, तो भी विकास के मौजूदा दौर में पैदावार की विभिन्न शाखाओं के परस्पर सम्बंधों के नियामक का काम करता रहता है, उनके बीच श्रम-वितरण के नियामक का काम करता रहता है।

यह बिल्कुल असत्य है। मूल्य के नियम की तरह, मूल्य भी एक ऐतिहासिक इकाई है जिसका सम्बंध बिकाऊ माल की पैदावार से है। बिकाऊ माल की पैदावार के ख़त्म होने पर, मूल्य और उसके रूप और मूल्य का नियम भी ख़त्म हो जाते हैं।

कम्युनिस्ट समाज के दूसरे दौर में माल की पैदावार में सर्फ़ किया हुआ समय घुमा-फिराकर, मूल्य और उसके रूपों के ज़रिये न नापा जायगा जैसा कि बिकाऊ माल की पैदावार में होता है, बल्कि सीधे-सीधे और तात्कालिक ढंग से नापा जायगा—माल की पैदावार में सर्फ़ किये हुए समय के परिमाण से, घंटों की संख्या से। जहां तक श्रम के वितरण का सम्बंध है, पैदावार की शाखों में उसका वितरण मूल्य के नियम से निश्चित न होगा, जो उस समय तक काम करना बन्द कर चुकेगा,

बल्कि माल के लिये समाज की माँग से निश्चित होगा। वह ऐसा समाज होगा जिसमें समाज की ज़रूरतों से पैदावार नियमित होगी और आयोजक संस्थाओं के लिये समाज की ज़रूरतें प्रमुख महत्व की हो जायेंगी।

यह कहना भी एकदम ग़लत है कि हमारी मौजूदा आर्थिक व्यवस्था में, कम्युनिस्ट समाज के निर्माण के पहले दौर में, मूल्य का नियम पैदावार की विभिन्न शाखों में बाँटी जानेवाली मेहनत के "अनुपात" को नियमित करता है।

अगर यह सच होता तो यह बात समझ से बाहर होती कि हमारे हल्के उद्योग–धंधे, जो सब से ज़्यादा लाभदायक हैं, अधिक से अधिक क्यों विकसित नहीं किये जाते और भारी उद्योग-धंधों को तरजीह क्यों दी जाती है जब वे अक्सर कम लाभदायक होते हैं और कभी कभी बिल्कुल ही लाभदायक नहीं होते।

अगर यह सच होता तो यह बात समझ से बाहर होती कि हमारे भारी उद्योग-धंधों के कुछ कारख़ाने जो अब भी लाभदायक नहीं हैं और जहाँ मज़दूर की मेहनत "उचित प्रतिफल" नहीं देती, क्यों बन्द नहीं किये जाते और हल्के उद्योग-धंधों के कारख़ाने, जो निश्चय ही लाभदायक हों और जहाँ मज़दूरों की मेहनत "बड़े प्रतिफल" दे सकें, क्यों नहीं खोले जाते।

अगर यह सच होता तो यह बात समझ से बाहर होती कि मज़दूर उन कारख़ानों से, जो कम लाभदायक हैं लेकिन जो हमारी राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के लिये बहुत ज़रूरी हैं, क्यों नहीं हटा लिये जाते; और मूल्य के नियम के अनुसार, जिसके लिये कहा जाता है कि वह पैदावार की शाखों में बाँटी हुई मेहनत के "अनुपातों" को नियमित करता है, वे मज़दूर उन कारख़ानों में क्यों नहीं भरती कर लिये जाते जो ज़्यादा लाभदायक हैं।

ज़ाहिर है कि अगर हम इन साथियों की बताई राह पर चलते, तो हम खपत की चीज़ों की पैदावार के मुक़ाबले में पैदावार के साधनों के उत्पादन को तरजीह देना बन्द कर देते। और पैदावार के साधनों के उत्पादन को तरजीह देना बन्द करने का नतीजा क्या होता? नतीजा यह होता कि हमारी राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के निरंतर प्रसार की संभावना ख़त्म हो जाती क्योंकि पैदावार के साधनों के उत्पादन को तरजीह दिये बिना राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था का लगातार प्रसार नहीं हो सकता।

ये साथी भूल जाते हैं कि पूँजीवाद में ही, पैदावार के साधनों की निजी मिल्कियत होने पर और होड़, पैदावार की अराजकता और अति-पैदावार के संकट रहने पर ही, मूल्य का नियम पैदावार का नियामक हो सकता है। वे भूल जाते हैं कि हमारे देश में मूल्य के नियम का व्यापार-क्षेत्र पैदावार के साधनों की सामाजिक मिल्कियत से और राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के सन्तुलित विकास के नियम से सीमित होता है और इसलिये हमारी वार्षिक और पंचवर्षीय योजनाओं से भी, जो इस नियम की ज़रूरतों की मोटामोटी झलक हैं, सीमित होता है।

कुछ साथी इससे नतीजा निकालते हैं कि राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के सन्तुलित विकास का नियम और आर्थिक योजना-कार्य पैदावार के लाभदायीपन के सिद्धान्त का खंडन करते हैं। यह बिल्कुल असत्य है। बात इससे बिल्कुल उल्टी है। अगर लाभदायीपन की बात अलग-अलग कारख़ानों या उद्योगों की नज़र से नहीं और एक साल की मियाद को लेकर नहीं बल्कि समूची राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था की नज़र से और मसलन दस या पन्द्रह साल की मियाद को लेकर, जो इस सवाल की तरफ़ एकमात्र सही रुख है, विचारी जाय तो कुछ कारख़ानों या उद्योगों का अस्थायी और अस्थिर लाभदायीपन एक स्थायी और पक्के लाभदायीपन के ऊँचे रूप की तुलना में बहुत ही क्षुद्र है। स्थायी और पक्के लाभदायीपन का यह ऊँचा रूप राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के संतुलित विकास के

नियम के लागू होने से और आर्थिक योजना-कार्य से मिलता है, जो हमारी राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के लगातार प्रसार और उसकी ऊँची रफ़्तार को पक्का कर देते हैं और जो हमें समय-समय पर आनेवाले उन आर्थिक संकटों से बचा लेते हैं जो राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर देते हैं और समाज को भारी माली नुक़सान पहुँचाते हैं।

संक्षेप में, इस बारे में कोई शक नहीं हो सकता कि पैदावार की हमारी मौजूदा समाजवादी परिस्थितियों में मूल्य का नियम पैदावार की विभिन्न शाखों में बँटी हुई मेहनत के "अनुपातों का नियामक" नहीं हो सकता।

४. शहर व देहात के, और मानसिक व शारीरिक श्रम के परस्पर विरोध का ख़ात्मा और उनके परस्पर भेद की समाप्ति

इस शीर्षक के अन्तर्गत बहुत सी समस्याएँ हैं जो बुनियादी तौर से एक दूसरे से भिन्न हैं। मैं उन्हें एक ही परिच्छेद में ले रहा हूँ, उन सबको एक ही में मिला देने के लिये नहीं, बल्कि सिर्फ़ व्याख्या को संक्षेप में रखने के लिये।

शहर और देहात के, उद्योग-धंधे और खेती के परस्पर विरोध का ख़ात्मा एक सुपरिचित समस्या है जिस पर मार्क्स और एंगेल्स ने बहुत पहले विचार किया था। शहर द्वारा देहात का शोषण; पूँजीवाद के अन्तर्गत उद्योग-धंधों, व्यापार और उधार के विकास के पूरे क्रम के द्वारा किसानों की सम्पत्ति का हरण और देहात की बहुसंख्यक जनता की तबाही; इस विरोध का आर्थिक आधार हैं। इसलिये पूँजीवाद के अन्तर्गत शहर और देहात के विरोध को, हितों का विरोध समझा जाना चाहिये। इसीसे शहर के प्रति और आम तौर से "शहर वालों" के प्रति देहात में एक शत्रु-भाव पैदा हुआ।

इसमें शक नहीं कि हमारे देश में यह लाज़मी था कि पूँजीवाद और शोषण व्यवस्था के ख़ात्मे के बाद और समाजवादी व्यवस्था का पाया मज़बूत होने के बाद शहर और देहात के तथा उद्योग-धंधों और खेती के हितों का परस्पर विरोध भी ख़त्म हो जाय। और यही हुआ भी। ज़मींदारों और धनी किसानों को हटाने में समाजवादी नगर ने, हमारे मज़दूर वर्ग ने, हमारे किसानों की जो भारी सहायता की, उसने मज़दूर वर्ग और किसानों के सहयोग के आधार को मज़बूत किया। उधर किसानों और उनके पंचायती खेतों को फ़र्स्ट क्लास ट्रैक्टर और दूसरी मशीनें बाक़ायदा देने से मज़दूर वर्ग और किसानों का सहयोग मित्रता में तब्दील हो गया। अवश्य ही मज़दूर और पंचायती खेतों के किसान दो वर्गों के हैं जो स्थिति में एक दूसरे से भिन्न हैं। लेकिन यह भिन्नता उनकी मित्रता को किसी तरह कमज़ोर नहीं बनाती। उल्टा उनके हित एक समान नीति में ही निहित हैं—यह कि समाजवादी व्यवस्था को मज़बूत किया जाय और कम्युनिज़्म की जीत हो। इसलिये इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि शहर के प्रति देहात के पिछले अविश्वास का निशान भी बाक़ी नहीं रह गया है, पिछली नफ़रत की तो बात ही दूर है।

इस सबका मतलब यह है कि शहर और देहात के तथा उद्योग-धंधों और खेती के परस्पर विरोध के आधार को हमारी मौजूदा समाजवादी व्यवस्था ने ख़त्म भी कर दिया है।

अवश्य ही इसका यह मतलब नहीं है कि शहर और देहात के परस्पर विरोध को दूर करने का नतीजा यह होगा कि "बड़े-बड़े शहर ख़त्म हो जायेंगे" (एंगेल्स, **ड्यूरिंग-मत-खंडन**)। यही नहीं कि बड़े-बड़े शहर ख़त्म न होंगे बल्कि नये बड़े शहर बस जायेंगे जो संस्कृति के अधिक से अधिक विकास के केन्द्र होंगे और जो केवल बड़े पैमाने के उद्योगों के ही केन्द्र न होंगे, बल्कि खेती की उपज को रूपान्तरित करने और खाद्य उद्योग की सभी शाखों के ज़बर्दस्त विकास

के भी केन्द्र होंगे। यह राष्ट्र के सांस्कृतिक विकास को आसान बनायेगा और शहर और देहात के जीवन की परिस्थितियों को समतल बनाने की ओर आगे बढ़ेगा।

मानसिक और शारीरिक श्रम के परस्पर विरोध को मिटाने की समस्या के बारे में भी हालत ऐसी ही है। यह भी एक सुपरिचित समस्या है जिस पर बहुत पहले मार्क्स और एंगेल्स ने विचार किया था। मानसिक और शारीरिक श्रम के परस्पर विरोध का आर्थिक आधार मानसिक श्रमिकों द्वारा शारीरिक मेहनत करनेवालों का शोषण है। पूँजीवाद के अन्तर्गत कारखानों के शारीरिक श्रमिकों और प्रबन्धकों के बीच जो खाई थी, उसे हर कोई जानता है। हम जानते हैं कि इस खाई की वजह से प्रबन्धकों की तरफ़, फ़ोरमैनों, इंजीनियरों और कौशल-सम्बंधी दूसरे कर्मचारियों की तरफ़, मज़दूरों में एक शत्रु-भाव पैदा हुआ। मज़दूर उन्हें अपना दुश्मन समझते थे। यह स्वाभाविक है कि पूँजीवाद और शोषण-व्यवस्था के ख़ात्मे के साथ शारीरिक और मानसिक श्रम के हितों का परस्पर विरोध भी लाज़मी तौर से ख़त्म हो जाय। और यह दरअसल हमारी मौजूदा समाजवादी व्यवस्था में ख़त्म हो गया है। आज शारीरिक श्रमिक और प्रबन्धक शत्रु नहीं हैं बल्कि साथी और दोस्त हैं। वे पैदावार करनेवालों के एक ही सामूहिक संगठन के सदस्य हैं, जिन्हें पैदावार की उन्नति और सुधार से सजीव दिलचस्पी है। उनकी पिछली शत्रुता का निशान भी बाक़ी नहीं रह गया है।

शहर (उद्योग-धंधे) व देहात (खेती) के और शारीरिक व मानसिक श्रम के भेदों के मिटने की समस्या की विशेषता और ही है। मार्क्सवाद के मूल ग्रन्थों (क्लैसिक्स) में इस समस्या पर विचार नहीं किया गया। यह एक नयी समस्या है, ऐसी समस्या जिसे हमारे समाजवादी निर्माण ने अमली तौर से पेश किया है।

क्या यह समस्या काल्पनिक है? क्या हमारे लिये इसका कोई अमली या सैद्धान्तिक महत्व है? नहीं, इस समस्या को काल्पनिक नहीं

समझा जा सकता। इसके विपरीत हमारे लिये यह एक बड़े ही महत्व की समस्या है।

मिसाल के लिये खेती और उद्योग-धंधों के भेद को लीजिये। हमारे देश में यह भेद इसी बात में नहीं है कि खेती करने की परिस्थितियाँ उद्योग-धंधों की परिस्थितियों से भिन्न हैं, बल्कि मुख्यतः और सबसे बढ़कर इस बात में है कि जहाँ उद्योग-धंधों में पैदावार के साधनों और उद्योग-धन्धों की उपज में सार्वजनिक मिल्कियत है, वहाँ खेती में सार्वजनिक मिल्कियत नहीं बल्कि समुदाय की, पंचायती खेत की मिल्कियत है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि इस बात से बिकाऊ माल का चलन क़ायम रहता है और जब उद्योग-धंधों और खेती का यह भेद मिट जायगा, तभी बिकाऊ माल की पैदावार अपने तमाम आवश्यक परिणामों के साथ ख़त्म होगी। इसलिये इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि खेती और उद्योग-धंधों के बीच के इस बुनियादी भेद का मिटना हमारे लिये एक ज़बर्दस्त महत्व की बात होनी चाहिये।

मानसिक श्रम और शारीरिक श्रम के बुनियादी भेद के मिटने की समस्या के बारे में यही बात कही जानी चाहिये। हमारे लिये यह भी ज़बर्दस्त महत्व की समस्या है। समाजवादी होड़ का आंदोलन जब तक एक विशाल जन-समूह के पैमाने पर न चला था, तब तक हमारे उद्योग-धंधों की प्रगति बहुत रुक रुककर हुई, और बहुत से साथियों ने यह सुझाव भी दिया कि औद्योगिक विकास की रफ़्तार धीमी कर देनी चाहिये। इसका मुख्य कारण यह था कि मज़दूरों का सांस्कृतिक और कौशल-सम्बंधी स्तर बहुत नीचा था और कौशल-सम्बंधी कर्मचारियों के स्तर से बहुत ही पीछे था। लेकिन जैसे ही समाजवादी होड़ ने एक जन-सामूहिक रूप लिया, परिस्थिति बुनियादी तौर से बदल गयी। यही वह घड़ी थी जब से उद्योग-धंधों ने और तेज़ रफ़्तार से बढ़ना शुरू किया। समाजवादी होड़

ने एक जन-सामूहिक आन्दोलन का रूप क्यों लिया ? इसलिये कि मजदूरों में साथियों के दल के दल सामने आये जिन्होंने कौशल-सम्बंधी ज्ञान की कम से कम जरूरतों पर ही क़ाबू नहीं पाया, बल्कि उससे भी आगे बढ़े और कौशल-सम्बंधी कर्मचारियों की सतह तक पहुँच गए। वे कौशल के कर्मचारियों और इंजीनियरों की भूलें सुधारने लगे, प्रचलित विधियों को पुरानी पड़ चुकी साबित करके तोड़ने लगे, नयी और ज़्यादा आधुनिक विधियाँ प्रचलित करने लगे, वग़ैरह। अगर सिर्फ़ अलग-थलग दलों ने ही नहीं बल्कि मजदूरों की बहुतायत ने इंजीनियरों और कौशल के कर्मचारियों की सतह तक अपना कौशल और संस्कृति का स्तर ऊँचा किया होता तो क्या नतीजा निकला होता ? हमारे उद्योग-धंधे ऐसी बुलन्दी पर पहुँचते जो और देशों के उद्योग-धंधों के लिये मुमकिन न होता। इसलिये इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि कौशल-सम्बंधी कर्मचारियों के स्तर तक मजदूरों के सांस्कृतिक और कौशल-सम्बंधी स्तर को उठाकर मानसिक और शारीरिक श्रम के बुनियादी भेद को मिटाना हमारे लिये जबर्दस्त महत्व की चीज बने बिना रह नहीं सकता।

कुछ साथियों का दावा है कि समय बीतने पर न सिर्फ़ उद्योग-धंधों व खेती का और शारीरिक व मानसिक श्रम का बुनियादी भेद मिट जायगा, बल्कि उनके बीच का **सभी** भेद मिट जायगा। यह सत्य नहीं है। उद्योग-धन्धों और खेती के बुनियादी भेद के खात्मे से उनके बीच का सभी भेद नहीं मिट सकता। उद्योग-धंधों और खेती में काम करने की परिस्थितियों के भेद की वजह से कुछ भेद, भले ही वह ग़ैर-बुनियादी हो, जरूर रहेगा। उद्योग-धंधों में भी सभी शाखों में श्रम की परिस्थितियाँ एक सी नहीं हैं। मिसाल के लिये कोयला खान के मजदूरों की श्रम की परिस्थितियाँ मशीनों से लैस जूतों के एक कारखाने के मजदूरों की हालत से भिन्न हैं और धातु की खानों के मजदूरों के श्रम की परिस्थितियाँ इंजीनियरी के मजदूरों की परिस्थितियों से भिन्न

हैं। जब बात ऐसी है तब उद्योग-धंधों और खेती के बीच तो और भी कुछ भेद रहना ही चाहिये।

शारीरिक और मानसिक श्रम के भेद के बारे में भी यही बात कहनी चाहिये। उनके बीच का बुनियादी भेद, उनके सांस्कृतिक और कौशल-सम्बंधी स्तरों का भेद ज़रूर मिट जायगा। लेकिन कुछ भेद, वह भले ही ग़ैर-बुनियादी हो, रहेगा, और किसी कारण से नहीं तो इसीलिये कि प्रबन्धकों और मज़दूरों के श्रम की परिस्थितियाँ एक सी नहीं हैं।

जो साथी इससे उल्टी बात कहते हैं, वे शायद उस स्थापना के आधार पर कहते हैं जो मेरे कुछ बयानों में दी हुई है। उसमें उद्योग-धंधों व खेती के, और शारीरिक व मानसिक श्रम के परस्पर भेद के खात्मे की बात कही गयी है। उसमें कोई ऐसी शर्त नहीं रखी गयी है जिसका मतलब **बुनियादी** भेद के मिटने से हो, न कि सभी भेदों के मिटने से। साथियों ने मेरी स्थापना को ठीक इसी तरह समझा और यह मान लिया कि उसका मतलब सभी भेद के मिटने से है। लेकिन इससे ज़ाहिर होता है कि वह स्थापना पूरी तरह ठीक नहीं थी, असन्तोषजनक थी। उसे रद्द कर देना चाहिये और उसकी जगह दूसरी स्थापना रखनी चाहिये, ऐसी स्थापना जिसमें उद्योग-धंधों व खेती के, तथा शारीरिक व मानसिक श्रम के बुनियादी भेदों के मिटने की बात और ग़ैर-बुनियादी भेदों के क़ायम रहने की बात कही गयी हो।

५. दुनिया के एक ही मिले-जुले बाज़ार का छिन्न-भिन्न होना और विश्व पूंजीवादी व्यवस्था के संकट का गहरा होना

एक ही विश्वव्यापी मिले-जुले बाज़ार के छिन्न-भिन्न होने को दूसरे महायुद्ध का, और उसके आर्थिक परिणामों का, सबसे महत्वपूर्ण आर्थिक

फल समझा जाना चाहिये। उसका असर यह हुआ है कि विश्व पूँजीवादी व्यवस्था का आम संकट और गहरा हुआ है।

दूसरा महायुद्ध खुद इस संकट की उपज था। जिन दोनों पूँजीवादी गुटों ने लड़ाई में सींग भिड़ाये थे, उन्होंने यह हिसाब लगाया था कि दुश्मन को हरायेंगे और दुनिया के मालिक बन बैठेंगे। इसी में वह संकट से निकलने की राह ढूँढ़ रहे थे। अमरीका ने आशा की थी कि अपने सब से ख़तरनाक प्रतिद्वंद्वियों, जर्मनी और जापान, को बेकार कर देगा, विदेश के बाज़ार और दुनिया के कच्चे माल के साधन हथिया लेगा और अपना विश्व प्रभुत्व क़ायम कर लेगा।

लेकिन युद्ध ने इस आशा को पूरा न किया। यह ठीक है कि तीन बड़े पूँजीवादी देशों—अमरीका, ब्रिटेन और फ्रान्स—के प्रतिद्वंदी के रूप में जर्मनी और जापान बेकार कर दिये गये। लेकिन इसके साथ ही चीन और योरप के दूसरे जनवादी राज्य पूँजीवादी व्यवस्था से अलग हो गये और पूँजीवादी कैम्प के मुक़ाबले में उन्होंने सोवियत संघ के साथ एक संयुक्त और शक्तिशाली समाजवादी कैम्प बनाया। इन दो विरोधी कैम्पों के अस्तित्व का आर्थिक नतीजा यह हुआ कि एक ही मिला-जुला विश्वव्यापी बाज़ार छिन्न-भिन्न हो गया जिससे कि अब हमारे सामने दो समानान्तर विश्व बाज़ार हैं और वे भी एक दूसरे का सामना कर रहे हैं।

यह भी ध्यान देने की बात है कि खुद अमरीका, ब्रिटेन और फ्रान्स ने ही—अवश्य ही, बिना चाहे हुए—इस नये, समानान्तर विश्व बाज़ार के निर्माण में और उसे मज़बूत बनाने में योग दिया है। उन्होंने सोवियत संघ, चीन और योरप के जनवादी राज्यों पर, जो "मार्शल योजना" व्यवस्था में शामिल न हुए थे, आर्थिक नाकेबन्दी लागू की और सोचा कि इस तरह इनका गला घोंट दें। लेकिन इसका नतीजा यह नहीं हुआ कि इनका गला घोंटा गया, बल्कि दुनिया का नया बाज़ार और मज़बूत हुआ।

लेकिन अवश्य ही बुनियादी बात आर्थिक नाकेबन्दी नहीं, बल्कि युद्ध के बाद से इन देशों का आर्थिक रूप से संयुक्त होना और परस्पर

सहायता और आर्थिक सहयोग क़ायम करना है। इस सहयोग का तजुर्बा बतलाता है कि एक भी पूँजीवादी देश जनवादी राज्यों की ऐसी कारगर और कौशल के लिहाज़ से योग्य सहायता न कर सकता था, जैसी सहायता कि सोवियत संघ कर रहा है। यही बात नहीं कि यह सहायता यथासंभव सस्ती है और कौशल के लिहाज़ से बहुत बढ़िया है। ख़ास बात यह है कि इस सहयोग की जड़ में एक दूसरे की मदद करने और सबकी आर्थिक उन्नति में मदद देने की सच्ची इच्छा है। नतीजा यह है कि इन देशों में औद्योगिक विकास की रफ़्तार तेज़ है। यह बात विश्वास के साथ कही जा सकती है कि औद्योगिक विकास की इस रफ़्तार से ये देश बहुत जल्द ऐसी स्थिति में हो जायँगे कि न सिर्फ़ उन्हें पूँजीवादी देशों से कुछ आयात करने की ज़रूरत न रहेगी, बल्कि अपनी फ़ालतू उपज के लिये उन्हें बाहर एक बाज़ार ढूँढ़ने की ज़रूरत भी महसूस होगी।

लेकिन इससे नतीजा निकलता है कि दुनिया के माल के स्रोतों का दायरा—जिसका बड़े पूँजीवादी देश (अमरीका, ब्रिटेन, फ्रान्स) शोषण करते हैं—फैलेगा नहीं बल्कि संकुचित होगा; दुनिया के बाज़ार में बेचने के अवसर उनके लिये कम होंगे और उनके उद्योग-धंधे दिन पर दिन अपनी क्षमता से कम काम करेंगे। वास्तव में, दुनिया के बाज़ार के छिन्न-भिन्न होने के सिलसिले में विश्व पूँजीवादी व्यवस्था के आम संकट के गहरे होने का यही मतलब है।

खुद पूँजीपतियों को इस बात का एहसास है क्योंकि सोवियत संघ और चीन जैसे बाज़ारों को खो देने का एहसास न करना उनके लिये मुश्किल है। "मार्शल योजना", कोरिया की लड़ाई, बेतहाशा हथियारबन्दी और औद्योगिक फ़ौजबन्दी के ज़रिये वे इन कठिनाइयों की रोक-थाम करना चाहते हैं। लेकिन यह सब वैसे ही है जैसे डूबते को तिनके का सहारा।

इस परिस्थिति ने अर्थशास्त्रियों के सामने दो मसले पेश किये हैं :

(क) क्या यह कहा जा सकता है कि दूसरे महायुद्ध के पहले पूँजीवाद के आम संकट के दौर में बाज़ारों के सापेक्ष स्थायित्व के बारे में स्तालिन की स्थापना अब भी सार्थक है ?

(ख) क्या यह कहा जा सकता है कि १९१६ के वसन्त में लेनिन ने जिस स्थापना पर प्रकाश डाला था कि पूँजीवाद के ह्रास के बावजूद " कुल मिलाकर पूँजीवाद पहले से कहीं ज़्यादा तेज़ी से बढ़ रहा है ", अब भी सार्थक है ?

मेरी समझ में ये सार्थक नहीं हो सकतीं। दूसरे महायुद्ध से जो परिस्थितियाँ पैदा हुई हैं, उन्हें देखते हुए यह समझना चाहिये कि इन दोनों स्थापनाओं की सार्थकता ख़त्म हो गयी है।

६. पूँजीवादी देशों के बीच युद्धों की अनिवार्यता

कुछ साथियों का विचार है कि दूसरे महायुद्ध के बाद नयी अन्तरराष्ट्रीय परिस्थितियों की वजह से पूँजीवादी देशों के बीच युद्धों की अनिवार्यता ख़त्म हो गयी है। वे समझते हैं कि पूँजीवादी देशों के अन्तर्विरोधों से समाजवादी कैम्प और पूँजीवादी कैम्प के अन्तर्विरोध ज्यादा तीव्र हैं; कि अमरीका ने दूसरे पूँजीवादी देशों को इतना काफ़ी अपने वश में कर लिया है कि वह उन्हें एक दूसरे के ख़िलाफ़ लड़ने और एक दूसरे को कमजोर करने से रोक सकता है; कि प्रमुख पूँजीवादी दिमाग़ दो महायुद्धों से और उनसे तमाम पूँजीवादी संसार को जो भारी नुक़्सान पहुँचा था, उससे इतना काफ़ी सीख चुके हैं कि वे पूँजीवादी देशों को एक दूसरे के ख़िलाफ़ युद्ध में न पड़ने देंगे—और इन सब कारणों से पूँजीवादी देशों में अब परस्पर युद्ध अनिवार्य नहीं हैं।

ये साथी ग़लती पर हैं। वे सतह पर आने-जानेवाले बाहरी संघटन को देखते हैं लेकिन वे उन गंभीर शक्तियों को नहीं देखते जो यद्यपि अभी तक बिना दिखाई दिये काम कर रही हैं फिर भी जो विकास-क्रम को निश्चित करेंगी।

ऊपर से मालूम होता है, सब "ठीक ही ठीक" है: अमरीका ने पच्छिमी योरप, जापान और दूसरे पूँजीवादी देशों को बँधे राशन पर रख छोड़ा है; जर्मनी (पच्छिमी), ब्रिटेन, फ्रान्स, इटली व जापान उसके पंजों में दबोच लिये गये हैं और सर झुकाये उसकी आज्ञाएँ मान रहे हैं। लेकिन यह समझना भूल होगी कि "अनन्त काल" तक सब "ठीक ही ठीक" रहेगा, कि ये देश अमरीकी प्रभुत्व और उत्पीड़न को हमेशा बर्दाश्त करते रहेंगे, कि वे अमरीकी दासता से पिण्ड छुड़ाकर भागने और स्वतंत्र विकास की राह पकड़ने की कोशिश न करेंगे।

मिसाल के लिये सबसे पहले ब्रिटेन और फ्रान्स को लें। निस्सन्देह ये साम्राज्यवादी देश हैं। निस्सन्देह सस्ता कच्चा माल और सुरक्षित बाज़ार उनके लिये ज़बर्दस्त महत्व की चीज़ें हैं। क्या यह माना जा सकता है कि वे हमेशा आज की इस हालत को बरदाश्त करते रहेंगे जिसमें अमरीकी, "मार्शल योजना की मदद" के भेष में ब्रिटेन और फ्रान्स की अर्थ-व्यवस्था में पैठ रहे हैं और उन्हें अमरीकी अर्थतंत्र का सहायक अंग बनाना चाहते हैं और ब्रिटिश और फ्रान्सीसी उपनिवेशों में अमरीकी पूँजी कच्चा माल और बाज़ार हथियाती जाती है और इस तरह ब्रिटिश और फ्रान्सीसी पूँजीपतियों के भारी मुनाफ़ों के सत्यानाश का जाल रचती है? क्या यह कहना ज़्यादा सच न होगा कि पूँजीवादी ब्रिटेन और उसके बाद पूँजीवादी फ्रान्स को मजबूरन अमरीकी बाहुपाश से अलग होना पड़ेगा और एक स्वतंत्र स्थिति और, अवश्य ही, भारी मुनाफ़ों के लिये उसके ख़िलाफ़ संघर्ष में पड़ना होगा?

अब हम बड़े पराजित देशों, जर्मनी (पच्छिमी) और जापान को लें। आजकल ये देश अमरीकी साम्राज्यवाद के फ़ौजी बूट के नीचे

मुसीबत में घिसट रहे हैं। उनके उद्योग-धंधे और खेती, उनका व्यापार, उनकी विदेशी और घरेलू नीति, और उनका सारा जीवन अमरीकी अधिकार की "शासन व्यवस्था" में जकड़ा हुआ है। लेकिन अभी कल ही ये देश महान साम्राज्यवादी शक्तियाँ थे और योरप और एशिया में ब्रिटेन, अमरीका और फ्रान्स के प्रभुत्व की जड़ें हिलाये दे रहे थे। यह सोचना कि ये देश फिर अपने पैरों पर खड़े होने की कोशिश न करेंगे, अमरीकी "शासन व्यवस्था" को चकनाचूर कर डालने की कोशिश न करेंगे, और स्वतंत्र विकास के लिये ज़बर्दस्ती राह न बना लेंगे, चमत्कारों में विश्वास करना है।

कहा जाता है कि पूँजीवादी देशों के अन्तर्विरोधों के सामने पूँजीवाद और समाजवाद के अन्तर्विरोध ज़्यादा तीखे हैं। अवश्य ही सिद्धान्त की निगाह से यह बात ठीक है। यह अब, आज ही ठीक नहीं है, दूसरे महायुद्ध के पहले भी यह ठीक थी। और पूँजीवादी देशों के नेताओं ने उसका बहुत कुछ एहसास किया था। फिर भी दूसरा महायुद्ध सोवियत संघ के खिलाफ़ युद्ध के रूप में नहीं बल्कि पूँजीवादी देशों के बीच युद्ध के रूप में शुरू हुआ था। क्यों? पहले, इसलिये कि पूँजीवाद के लिये समाजवादी देश, सोवियत संघ के खिलाफ़ युद्ध, पूँजीवादी देशों के परस्पर युद्ध से ज़्यादा ख़तरनाक है; क्योंकि पूँजीवादी देशों के बीच युद्ध में जहाँ दूसरे देशों पर कुछ पूँजीवादी देशों का प्रभुत्व दाँव पर चढ़ता है, वहाँ सोवियत संघ से युद्ध छेड़ने पर लाज़मी तौर से पूँजीवाद का अस्तित्व ही दाँव पर चढ़ जाता है। दूसरे, इसलिये कि पूँजीपति, "प्रचार" के लिये, सोवियत संघ के हमलावर होने का शोर तो मचाते हैं, लेकिन वे खुद विश्वास नहीं करते कि वह हमलावर है क्योंकि वे सोवियत संघ की शान्तिपूर्ण नीति से परिचित हैं और जानते हैं कि वह अपने से ही पूँजीवादी देशों पर हमला न करेगा।

पहले महायुद्ध के बाद इसी तरह लोग विश्वास करते थे कि जर्मनी पूरी तरह से बेकार कर दिया गया है, ठीक वैसे ही जैसे कुछ साथी आजकल

विश्वास करते हैं कि जापान और जर्मनी पूरी तरह से बेकार कर दिये गये हैं। उस वक्त भी यह कहा जाता था और अखबारों में बड़ा शोर किया जाता था कि अमरीका ने योरप को बँधे राशन पर रख छोड़ा है; कि जर्मनी फिर कभी अपने पैरों पर खड़ा न होगा और पूँजीवादी देशों में अब लड़ाइयाँ न होंगी। इसके बावजूद हार के बाद पन्द्रह-बीस साल के भीतर जर्मनी एक बड़ी ताक़त के रूप में दासता को तोड़ निकला, उसने स्वतंत्र विकास का रास्ता अपना लिया और इस तरह फिर अपने पैरों पर खड़ा हो गया। और यह महत्वपूर्ण बात है कि ब्रिटेन और अमरीका ने ही जर्मनी को आर्थिक रूप से बहाल होने और अपनी आर्थिक समर-शक्ति को बढ़ाने में मदद दी थी। अवश्य ही जब अमरीका और ब्रिटेन ने जर्मनी की आर्थिक बहाली में मदद दी थी तो उन्होंने एक बहाल हुए जर्मनी को सोवियत संघ से भिड़ाने के लिये, उसे समाजवाद के देश के ख़िलाफ़ इस्तेमाल करने के लिये, ऐसा किया था। लेकिन जर्मनी ने सबसे पहले ब्रिटेन–फ्रान्स–अमरीकी गुट के ख़िलाफ़ अपनी ताक़त आज़माई। और जब हिटलर-जर्मनी ने सोवियत संघ के ख़िलाफ़ युद्ध की घोषणा की, तो ब्रिटेन-फ्रान्स-अमरीकी गुट, हिटलरी-जर्मनी का साथ देना तो दरकिनार रहा, मजबूर होकर हिटलर-जर्मनी के ख़िलाफ़ सोवियत संघ से सहयोग करने बढ़ा।

नतीजा यह हुआ कि बाज़ारों के लिये पूँजीवादी देशों का संघर्ष और अपने प्रतिद्वंदियों को कुचल डालने की इच्छा अमल में पूँजीवादी और समाजवादी कैम्पों के अन्तर्विरोधों से ज़्यादा ताक़तवर साबित हुई।

तब इस बात की क्या गारंटी है कि जर्मनी और जापान फिर अपने पैरों पर न खड़े हो जायंगे, अमरीकी दासता से पिण्ड छुड़ाकर न भागेंगे और अपना स्वतंत्र जीवन न बितायेंगे? मेरी समझ में ऐसी कोई गारंटी नहीं है।

लेकिन इससे नतीजा निकलता है कि पूँजीवादी देशों के बीच युद्धों की अनिवार्यता क़ायम रहती है।

कहा जाता है कि लेनिन की इस स्थापना को, कि साम्राज्यवाद लाज़मी तौर से युद्ध को जन्म देता है, अब पुरानी पड़ चुकी समझना चाहिये, क्योंकि शान्ति की रक्षा के लिये और नये विश्वयुद्ध के ख़िलाफ़ ताक़तवर जन-शक्तियाँ सामने आ चुकी हैं। यह सत्य नहीं है।

मौजूदा शान्ति आन्दोलन का उद्देश्य है कि शान्ति की हिफ़ाज़त के लिये और नये विश्वयुद्ध को रोकने के लिये आम जनता को जगाया जाय। इसलिये इस आन्दोलन का उद्देश्य पूँजीवाद को ख़त्म करना और समाजवाद क़ायम करना नहीं है—वह अपने को शान्ति क़ायम रखने के जनवादी लक्ष्य तक सीमित रखता है। इस लिहाज़ से मौजूदा शान्ति आन्दोलन पहले महायुद्ध के वक़्त साम्राज्यवादी युद्ध को गृहयुद्ध में बदलने के लिये चलाये गये आन्दोलन से भिन्न है, क्योंकि वह आन्दोलन और आगे बढ़ा था और समाजवादी उद्देश्यों को लेकर चला था।

यह मुमकिन है कि परिस्थितियों के किसी निश्चित योग में शान्ति के लिये संघर्ष जहाँ-तहाँ समाजवाद के लिये संघर्ष में विकसित हो जाय। लेकिन तब वह आज का शान्ति आन्दोलन न रह जायगा; वह पूँजीवाद को परास्त करने का आन्दोलन होगा।

जिस बात की सबसे ज़्यादा संभावना है, वह यह कि मौजूदा शान्ति आन्दोलन, शान्ति की रक्षा के एक आन्दोलन की हैसियत से, अगर वह कामयाब होगा तो, किसी **खास** लड़ाई को रोक लेगा, उसे अस्थायी रूप से मुल्तवी करा देगा, अस्थायी रूप से किसी **खास** शान्ति को क़ायम रखेगा, किसी जंगबाज़ सरकार को पदच्युत कराके उसकी जगह दूसरी सरकार बिठा देगा, जो अस्थायी रूप से शान्ति क़ायम रखने के लिये तैयार हो। अवश्य ही, यह अच्छा होगा। बल्कि बहुत अच्छा होगा। लेकिन तो भी आम तौर से पूँजीवादी देशों के बीच युद्धों की अनिवार्यता ख़त्म करने के लिये वह काफ़ी न होगा। वह इसलिये काफ़ी न होगा कि शान्ति आन्दोलन की तमाम सफलताओं के बावजूद

साम्राज्यवाद क़ायम रहेगा, चालू रहेगा—और फलतः युद्धों की अनिवार्यता भी बनी रहेगी।

युद्ध की अनिवार्यता को ख़त्म करने के लिये यह जरूरी है कि साम्राज्यवाद को ही ख़त्म कर दिया जाय।

७. आधुनिक पूँजीवाद के और समाजवाद के बुनियादी आर्थिक नियम

जैसा कि आप लोग जानते हैं, पूँजीवाद के व समाजवाद के बुनियादी आर्थिक नियमों का सवाल बहस के दौरान में कई बार उठा। इस बारे में कई मत, कुछ बहुत अजीब-ग़रीब मत भी, प्रकट किये गये। यह ठीक है कि बहस में हिस्सा लेनेवालों में से बहुतायत की इस सवाल की तरफ़ बहुत हल्की प्रतिक्रिया हुई और उस पर कोई भी फ़ैसला होता हुआ नहीं दिखाई दिया। फिर भी, हिस्सा लेनेवालों में से किसी ने अस्वीकार नहीं किया कि इस तरह के नियम मौजूद हैं।

क्या पूँजीवाद का कोई बुनियादी आर्थिक नियम है? हाँ, ऐसा नियम है। यह नियम क्या है और उसकी अपनी विशेषताएँ क्या हैं? पूँजीवाद का बुनियादी आर्थिक नियम ऐसा नियम है कि वह पूँजीवादी पैदावार के विकास के किसी ख़ास पहलू या कुछ ख़ास सिलसिलों को निश्चित नहीं करता बल्कि उसके विकास के सभी मुख्य पहलुओं को और सभी मुख्य सिलसिलों को निश्चित करता है। इसलिये वह एक ऐसा नियम है जो पूँजीवादी पैदावार के तत्व को, उसकी तात्विक प्रकृति को, निश्चित करता है।

क्या मूल्य का नियम पूँजीवाद का बुनियादी आर्थिक नियम है? नहीं। मूल्य का नियम मुख्यतः बिकाऊ माल की पैदावार का नियम है।

वह पूँजीवाद के पहले भी था और बिकाऊ माल की पैदावार की तरह पूँजीवाद के परास्त होने के बाद भी वह क़ायम रहेगा—जैसे कि वह हमारे देश में है हालांकि उसका व्यापार-क्षेत्र और संकुचित हो गया है। पूँजीवादी परिस्थितियों में एक विशाल व्यापार-क्षेत्र होने से मूल्य का नियम, अवश्य ही, पूँजीवादी पैदावार के विकास में बहुत बड़ा हिस्सा लेता है। लेकिन यही नहीं कि पूँजीवादी पैदावार के तत्व को और पूँजीवादी मुनाफ़े के सिद्धान्तों को यह निश्चित नहीं करता, वह इन समस्याओं को पेश भी नहीं करता। इसलिये वह आधुनिक पूँजीवाद का बुनियादी आर्थिक नियम नहीं हो सकता।

इन्हीं कारणों से होड़ और पैदावार की अराजकता का नियम, या विभिन्न देशों में पूँजीवाद के असमान विकास का नियम भी पूँजीवाद का बुनियादी आर्थिक नियम नहीं हो सकता।

कहा यह जाता है कि मुनाफ़े की औसत दर का नियम आधुनिक पूँजीवाद का बुनियादी आर्थिक नियम है। यह सच नहीं है। आधुनिक पूँजीवाद, इजारेदार पूँजीवाद, औसत मुनाफ़े से सन्तोष नहीं कर सकता। इसके सिवा पूँजी के निरंतर घनीभूत होने के कारण औसत मुनाफ़े में गिरने की प्रवृत्ति भी होती है। आधुनिक इजारेदार पूँजीवाद औसत मुनाफ़ा नहीं, अधिकतम मुनाफ़ा चाहता है। कमोबेश नियमित रूप से फैलनेवाले पुनरुत्पादन के लिये उसे इस अधिकतम मुनाफ़े की ज़रूरत होती है।

पूँजीवाद के बुनियादी आर्थिक नियम की धारणा के सबसे ज़्यादा अनुरूप अतिरिक्त मूल्य का नियम, पूँजीवादी मुनाफ़े की पैदाइश और उसकी बढ़ती का नियम है। वह ज़रूर पूँजीवादी पैदावार की बुनियादी विशेषताएँ निश्चित करता है। लेकिन अतिरिक्त मूल्य का नियम बहुत ही आम नियम है। मुनाफ़े की अधिकतम दर की समस्या उसके अन्तर्गत नहीं आती, जिसे हासिल करना इजारेदार पूँजीवाद के

विकास की एक शर्त है। इस कमी को पूरा करने के लिये अतिरिक्त मूल्य के नियम को और ठोस बनाना चाहिये और इजारेदार पूँजीवाद की परिस्थितियों के अनुसार उसे और विकसित करना चाहिये। साथ ही यह ध्यान रखना चाहिये कि इजारेदार पूँजीवाद को हर किसी तरह के मुनाफ़े की चाह नहीं है, उसे अधिकतम मुनाफ़ा ही चाहिये। आधुनिक पूँजीवाद का वह बुनियादी आर्थिक नियम होगा।

आधुनिक पूँजीवाद के बुनियादी आर्थिक नियम की मुख्य विशेषताएँ और ज़रूरतें मोटे तौर से यों रखी जा सकती हैं: किसी देश की बहुसंख्यक जनता के शोषण, तबाही और ग़रीबी के ज़रिये; दूसरे देशों की जनता, ख़ास कर पिछड़े हुए देशों की जनता, की गुलामी और उसकी बाक़ायदा लूट के ज़रिये और अन्त में युद्ध और राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था की फ़ौजबन्दी के ज़रिये—जिससे अधिकतम मुनाफ़ा हासिल किया जाता है—अधिकतम पूँजीवादी मुनाफ़ा प्राप्त करना।

कहा जाता है कि आज की परिस्थितियों में पूँजीवादी विकास के लिये औसत मुनाफ़े को फिर भी बिल्कुल पर्याप्त समझा जा सकता है। यह सत्य नहीं है। औसत मुनाफ़ा लाभदायीपन की निम्नतम सीमा है जिससे नीचे पूँजीवादी पैदावार असंभव हो जाती है। लेकिन यह सोचना बेसिर-पैर की बात होगी कि उपनिवेशों को हथियाने में, देशों को जीतने और युद्ध छेड़ने में, आधुनिक इजारेदार पूँजीवाद के महाप्रभु सिर्फ़ औसत मुनाफ़ा हासिल करने की कोशिश कर रहे हैं। नहीं, न औसत मुनाफ़ा, न अति-मुनाफ़ा ही—जिसका मतलब, आम तौर से औसत मुनाफ़े में थोड़ी सी ही बढ़ती होता है—बल्कि ठीक अधिकतम मुनाफ़ा ही इजारेदार पूँजीवाद को जीवित रखनेवाली वस्तु है। ठीक यह अधिकतम मुनाफ़ा हासिल करने की ज़रूरत ही इजारेदार पूँजीवाद को ऐसे ख़तरनाक कामों की तरफ़ ठेलती है, जैसे कि उपनिवेशों और दूसरे पिछड़े हुए देशों को गुलाम बनाना और उन्हें बाक़ायदा लूटना, अनेक

स्वाधीन देशों को पराधीन बनाना, नये युद्धों का संगठन करना—जो कि आधुनिक पूँजीवाद के महाप्रभुओं के लिये सबसे अच्छा "रोजगार" है जिससे कि वे अधिकतम मुनाफ़ा बटोर सकते हैं—और अन्त में दुनिया का आर्थिक प्रभुत्व हासिल करने की कोशिशें करना।

पूँजीवाद के बुनियादी आर्थिक नियम का महत्व, दूसरी बातों के अलावा इसमें भी है कि चूँकि वह पैदावार की पूँजीवादी प्रणाली के विकास में सभी बड़े संघटनों को निश्चित करता है, उसके संकट और मुनाफ़े के दौर, उसकी जीत और हार, उसकी अच्छाइयाँ और बुराइयाँ —उसके अन्तर्विरोधी विकास के तमाम सिलसिले को—निश्चित करता है, इसलिये उससे हम इन संघटनों को समझ सकते हैं और उनकी व्याख्या कर सकते हैं।

बहुत से " ज्वलंत " उदाहरणों में से एक यह है।

पूँजीवाद के इतिहास और अमल से हम सभी उन तथ्यों को जानते हैं जो पूँजीवाद के अन्तर्गत कौशल के तेज विकास को ज़ाहिर करते हैं, जब कि पूँजीपति सबसे आगे बढ़े हुए कौशल के अलम्बरदारों के रूप में, पैदावार के कौशल के विकास में क्रान्तिकारियों के रूप में हमारे सामने आते हैं। लेकिन हम एक दूसरी तरह के तथ्यों को भी जानते हैं जो पूँजीवाद के अन्तर्गत कौशल के विकास का रुक जाना ज़ाहिर करते हैं, जब पूँजीपति नये कौशल के विकास में प्रतिक्रियावादियों के रूप में सामने आते हैं और अनेक बार तो हाथ से काम कराने लगते हैं।

इस भयानक अन्तर्विरोध का कारण क्या है? इसके कारण पर आधुनिक पूँजीवाद के बुनियादी आर्थिक नियम से ही, यानी अधिकतम मुनाफ़ा प्राप्त करने की ज़रूरत से ही, प्रकाश पड़ सकता है। पूँजीवाद नये कौशल के पक्ष में होता है जब कि उससे अधिकतम मुनाफ़ा हासिल करने की बात होती है। पूँजीवाद नये कौशल के खिलाफ़ होता है और हाथ से काम कराने के पक्ष में होता है जब कि नये कौशल से अधिकतम मुनाफ़ा कमाने की संभावना नहीं होती।

आधुनिक पूँजीवाद के बुनियादी आर्थिक नियम की हक़ीक़त यही है।

क्या समाजवाद का कोई बुनियादी आर्थिक नियम है? हाँ, है। इस नियम की लाज़िमी विशेषताएँ और ज़रूरतें क्या हैं? समाजवाद के बुनियादी नियम की लाज़िमी विशेषताएँ और ज़रूरतें मोटे तौर से यों रखी जा सकती हैं: उच्चतर कौशल के आधार पर समाजवादी पैदावार के निरंतर प्रसार और पूर्णता के ज़रिये तमाम समाज की लगातार बढ़ती हुई भौतिक और सांस्कृतिक आवश्यकताओं की अधिकतम पूर्ति हासिल करना।

फलस्वरूप: अधिकतम मुनाफ़े के बदले—समाज की भौतिक और सांस्कृतिक आवश्यकताओं की अधिकतम पूर्ति; पैदावार के निरंतर विकास में, लाभदायी दौर से संकट और संकट से लाभदायी दौर के, व्यवधान के बदले—पैदावार का निरंतर प्रसार; कौशल-सम्बंधी विकास में समय समय पर होनेवाली विच्छिन्नता के बदले, जिसके साथ समाज की उत्पादक शक्तियों का विनाश होता है,—उच्चतर कौशल के आधार पर पैदावार को पूर्णता की ओर ले जानेवाला अबाध क्रम।

कहा यह जाता है कि राष्ट्रीय अर्थतंत्र के संतुलित, सानुपात विकास का नियम समाजवाद का बुनियादी आर्थिक नियम है। यह सच नहीं है। अगर इसका पता न हो कि किस उद्देश्य से आर्थिक विकास आयोजित किया जा रहा है या वह उद्देश्य स्पष्ट न हो तो राष्ट्रीय अर्थतंत्र का संतुलित विकास और फलतः आर्थिक आयोजन, जो बहुत कुछ इस नियम का सही प्रतिबिंब है, अपने आप कोई फल नहीं दे सकते। राष्ट्रीय अर्थतंत्र का संतुलित विकास वांछित फल तभी दे सकता है जब कोई ऐसा उद्देश्य हो जिसके लिये आर्थिक विकास आयोजित किया जाता है। राष्ट्रीय अर्थतंत्र के संतुलित विकास का नियम अपने से यह उद्देश्य नहीं दे सकता। आर्थिक आयोजन तो उसे और भी कम दे सकता है। यह उद्देश्य समाजवाद के बुनियादी आर्थिक नियम में,

उसकी आवश्यकताओं के रूप में, निहित है जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। इसलिये राष्ट्रीय अर्थतंत्र के संतुलित विकास का नियम अपने चरम उत्कर्ष तक तभी लागू हो सकता है जब उसका व्यापार समाजवाद के बुनियादी आर्थिक नियम पर निर्भर हो।

जहाँ तक आर्थिक आयोजन का सवाल है, उससे ठोस फल तभी मिल सकता है जब दो शर्तें पूरी हों : (क) यदि वह राष्ट्रीय अर्थतंत्र के संतुलित विकास के नियम की आवश्यकताओं को सही-सही प्रतिबिंबित करता हो, और (ख) यदि वह हर तरह समाजवाद के बुनियादी आर्थिक नियम की आवश्यकताओं के अनुकूल हो।

८. दूसरे सवाल

(१) सामन्तवाद में आर्थिक के अतिरिक्त दूसरे उत्पीड़न।

यह ठीक है कि सामन्ती भूस्वामियों की आर्थिक शक्ति को दृढ़ करने में आर्थिक के अलावा दूसरे उत्पीड़नों ने काम किया था; फिर भी, यह नहीं, बल्कि भूमि का सामन्ती स्वामित्व ही सामन्तवाद का आधार था।

(२) पंचायती-खेत परिवार की निजी सम्पत्ति।

यह कहना गलत होगा, जैसा कि पाठ्य-पुस्तक के मसौदे में कहा गया है, कि "पंचायती खेत में हर परिवार के पास निजी काम के लिये एक गाय, थोड़े से मवेशी और चिड़ियाँ हैं"। वास्तव में, जैसा कि हमें मालूम है, निजी काम के लिये नहीं, बल्कि निजी **सम्पत्ति** की तरह, पंचायती खेतों के हर परिवार के पास उसकी गाय, थोड़े से मवेशी, चिड़ियाँ वग़ैरह होती हैं। "निजी काम के लिये"—यह शब्दावली, स्पष्ट है, कृषि-संघ के आदर्श नियमों से ली गयी है। लेकिन कृषि-संघ के आदर्श नियमों में एक ग़लती हुई थी। सोवियत संघ का विधान, जो ज़्यादा सावधानी से लिखा गया था, इस बात को यों रखता है :

"पंचायती खेत के हर परिवार के पास...अपनी निजी सम्पत्ति के रूप में ज़मीन पर एक और छोटी किसानी, एक रहने का मकान, मवेशी, चिड़ियाँ, और छोटे-मोटे खेती के औज़ार हैं।"

अवश्य ही, यह बात ठीक है।

इसके साथ ही ख़ास तौर से यह और भी जोड़ देना उचित होगा कि पंचायती खेत के हर किसान के पास उसकी निजी सम्पत्ति के रूप में स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार एक से इतनी तक गायें, इतनी भेड़ें, बकरियाँ, सुअर (यह भी इतने से इतने तक, स्थानीय परिस्थितियों को देखते हुए), और चिड़ियों की बेहिसाब तादाद (बत्तखें, कलहंस, मुर्ग़ियाँ, पेरू पक्षी) होती हैं।

इस तरह का विस्तृत हवाला दूसरे देश के हमारे साथियों के लिये बहुत महत्वपूर्ण है, जो यह जानना चाहते हैं कि जब कि हमारे देश में खेती का पंचायतीकरण हो चुका है, तो पंचायती खेतों के परिवारों की निजी सम्पत्ति ठीक ठीक क्या रह गयी है।

(३) ज़मींदारों को किसानों द्वारा दिया हुआ पूरा लगान; ज़मीन की ख़रीद का पूरा ख़र्च भी।

पाठ्य-पुस्तक का मसौदा कहता है कि ज़मीन के राष्ट्रीकरण के फलस्वरूप "किसान ज़मींदारों को लगभग ५० करोड़ रूबल की सालाना रक़म देने से मुक्त हो गये" (यहाँ "सोने" के रूबल होना चाहिये)। इस संख्या को जाँच लेना चाहिये क्योंकि मुझे ऐसा लगता है कि इसमें समूचे रूस में दिया जानेवाला लगान शामिल नहीं किया गया है, बल्कि सिर्फ़ अधिकांश रूसी ज़िलों को ही लिया गया है। यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि रूस के कुछ सरहदी इलाक़ों में लगान ग़ल्ले की शक्ल में दिया जाता था। इस तथ्य को, पाठ्य-पुस्तक के मसौदे के लेखक, स्पष्ट है, छोड़ गये हैं। इसके अलावा यह भी याद रखना

चाहिये कि किसान लगान देने से ही नहीं, बल्कि जमीन को खरीदने के सालाना खर्च से भी मुक्त हो गये हैं। पाठ्य-पुस्तक के मसौदे में क्या इसका ध्यान रखा गया था? मुझे ऐसा लगता है कि नहीं रखा गया है; लेकिन रखा जाना चाहिये था।

(४) राज्यसत्ता की व्यवस्था से इजारेदारों के गुटों का संयुक्त होना।

"संयुक्त होना"—यह शब्दावली उपयुक्त नहीं है। वह इजारेदार गुटों के राज्यसत्ता में घुलने-मिलने के सिलसिले को उथले और वर्णनात्मक ढंग से नोट करती है, लेकिन इस सिलसिले के आर्थिक तत्व को प्रकट नहीं करती। असल में बात यह है कि घुलने-मिलने की क्रिया सिर्फ संयुक्त होने की क्रिया नहीं है, बल्कि इजारेदार गुटों का राज्यसत्ता की व्यवस्था पर हावी होना है। इसलिये "संयुक्त होना"—इन शब्दों को रद्द कर देना चाहिये और इसके बदले "इजारेदार गुटों का राज्यसत्ता की व्यवस्था पर हावी होना"—ये शब्द रखने चाहिये।

(५) सोवियत संघ में मशीनों का उपयोग।

पाठ्य-पुस्तक के मसौदे में कहा गया है कि "सोवियत संघ में जहाँ भी मशीनें समाज के श्रम को कम करती हैं, वे इस्तेमाल की जाती हैं।" जो कहना चाहिये, वह तो यह किसी तरह भी नहीं है। पहले तो सोवियत संघ में मशीनें हमेशा समाज के श्रम को कम करती हैं और इसलिये हमें ऐसी मिसालें नहीं मालूम जहाँ उन्होंने सोवियत संघ में समाज के श्रम को कम न किया हो। दूसरे, मशीनें श्रम को कम ही नहीं करतीं, वे मजदूर के परिश्रम को हल्का भी करती हैं और इसलिये हमारी परिस्थितियों में, पूँजीवाद की परिस्थितियों के विपरीत, मजदूर श्रम के सिलसिले में अत्यन्त उत्सुकता से मशीनें इस्तेमाल करते हैं।

इसलिये यह कहना चाहिये कि मशीनें कहीं भी इतनी खुशी से इस्तेमाल नहीं की जातीं जितना कि सोवियत संघ में, क्योंकि वे समाज के श्रम को कम करती हैं और मजदूर के परिश्रम को हल्का करती

हैं और चूँकि सोवियत संघ में बेकारी नहीं है, इसलिये मजदूर राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में अत्यन्त उत्सुकता से मशीनें इस्तेमाल करते हैं।

(६) पूँजीवादी देशों में मजदूर वर्ग के रहन-सहन का स्तर।

आम तौर से जब मजदूर वर्ग के रहन-सहन के स्तर की बात की जाती है तो मतलब होता है सिर्फ़ काम पाये हुए मजदूरों के स्तर से, न कि उनके स्तर से जिन्हें बेकारों की रिजर्व फ़ौज कहा जाता है। मज़दूर वर्ग के रहन-सहन के स्तर के सवाल की तरफ़ क्या इस तरह का रुख़ सही है? मेरी समझ में यह सही नहीं है। अगर बेकारों की एक रिजर्व फ़ौज है, जिसके सदस्य अपनी श्रम-शक्ति बेचे बिना ज़िन्दा नहीं रह सकते, तो बेकारों को अवश्य ही मज़दूर वर्ग का अंग होना चाहिये; और अगर वे मजदूर वर्ग के अंग हैं तो उनकी मुफ़लिसी की हालत पैदावार में लगे हुए मजदूरों के रहन-सहन के स्तर पर असर डाले बिना नहीं रह सकती। इसलिये मेरा विचार है कि जब पूँजीवादी देशों के मजदूर वर्ग के रहन-सहन के स्तर का बयान किया जाय, तब बेकार मज़दूरों की रिजर्व फ़ौज की हालत को भी ध्यान में रखा जाय।

(७) राष्ट्रीय आमदनी।

मैं इसे **क़तई** ज़रूरी समझता हूँ कि पाठ्य-पुस्तक के मसौदे में राष्ट्रीय आमदनी पर एक अध्याय जोड़ा जाय।

(८) क्या पाठ्य-पुस्तक में समाजवाद के अर्थशास्त्र के नीव डालनेवालों के रूप में लेनिन और स्तालिन पर एक विशेष अध्याय हो?

मैं समझता हूँ कि पाठ्य-पुस्तक से "समाजवाद का मार्क्सवादी सिद्धान्त, लेनिन और स्तालिन द्वारा समाजवाद के अर्थशास्त्र की नीवें डालना" नामक अध्याय निकाल देना चाहिये। यह बिल्कुल अनावश्यक है, चूँकि वह इज़ाफ़ा कुछ नहीं करता और जो बातें पाठ्य-पुस्तक के पहले अध्यायों में और विस्तार से कही गयी हैं, उन्हें केवल नीरस ढंग से दोहराता है।

जहाँ तक दूसरे सवालों का सम्बंध है, कॉमरेड औस्त्रोवित्यानोव, लियान्तियेव, शेपीलोव, गतोव्स्की आदि, के "सुझावों" पर मुझे कोई टिप्पणी नहीं करनी है।

९. अर्थशास्त्र पर एक मार्क्सवादी पाठ्य-पुस्तक का अन्तर्राष्ट्रीय महत्व

मेरा ख़याल है कि अर्थशास्त्र पर मार्क्सवादी पाठ्य-पुस्तक का महत्व साथियों को जितने भरेपूरे ढंग से महसूस करना चाहिये, वे नहीं करते। वह हमारे सोवियत नौजवानों के लिये ही जरूरी नहीं है। वह सभी देशों के कम्युनिस्टों और कम्युनिस्ट हमदर्दों के लिये खास तौर से ज़रूरी है। दूसरे देशों में हमारे कॉमरेड जानना चाहते हैं कि हम पूँजीवादी गुलामी को तोड़कर कैसे बाहर निकले, समाजवादी नीति पर हमने अपने देश की अर्थ-व्यवस्था को कैसे बनाया; किसानों की मित्रता हमने कैसे हासिल की; जो देश अभी इतने हाल तक ग़रीब और कमज़ोर था, उसे हमने समृद्ध और शक्तिशाली कैसे बना दिया; पंचायती खेत क्या हैं; जब पैदावार के साधनों का समाजीकरण हो गया है, तब भी हम बिकाऊ माल की पैदावार, मुद्रा, व्यापार, वग़ैरह क्यों ख़त्म नहीं कर देते। वे यह सब और इसके अलावा भी बहुत कुछ जानना चाहते हैं, सिर्फ़ कुतुहलवश नहीं, बल्कि हमसे सीखने के लिये और अपने देशों में हमारा अनुभव काम में लाने के लिये। फलतः अर्थशास्त्र पर एक अच्छी मार्क्सवादी पाठ्य-पुस्तक का प्रकाशन सिर्फ अपने देश के लिये ही राजनीतिक महत्व की बात नहीं है, बल्कि महान अन्तर्राष्ट्रीय महत्व की बात भी है।

इसलिये जिस चीज़ की ज़रूरत है, वह है ऐसी पाठ्य-पुस्तक की, जो सिर्फ़ हमारे देश के ही नहीं, बल्कि बाहर के भी क्रान्तिकारी नौजवानों के लिये ऐसी पुस्तक का काम दे सके जिसमें इस विषय की तमाम आवश्यक बातें मिल जायं। वह बहुत मोटी न होनी

चाहिये, क्योंकि बहुत मोटी किताब इस तरह की पुस्तक नहीं हो सकती और उसे पचाना, हज़म करना मुश्किल होता है। लेकिन उसमें हमारे देश की अर्थ-व्यवस्था और पूँजीवादी और औपनिवेशिक व्यवस्था के अर्थतंत्र के बारे में हर बुनियादी बात होनी चाहिये।

बहस के दौरान में कुछ साथियों ने पाठ्य-पुस्तक में कुछ और अध्याय जोड़ने का सुझाव रखा: इतिहासकारों ने—इतिहास पर, राजनीतिज्ञों ने—राजनीति पर, दार्शनिकों ने—दर्शन पर, अर्थशास्त्रियों ने—अर्थशास्त्र पर। लेकिन इसका नतीजा होगा कि पाठ्य-पुस्तक बेतरह मोटी हो जायगी। ज़ाहिर है कि यह न करना चाहिये। पाठ्य-पुस्तक अर्थशास्त्र की समस्याओं को चित्रित करने के लिये ऐतिहासिक प्रणाली इस्तेमाल करती है, लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि अर्थशास्त्र की पाठ्य-पुस्तक को हम आर्थिक सम्बंधों का इतिहास बना दें।

हमें ऐसी पाठ्य-पुस्तक चाहिये जो ५०० पृष्ठ की हो, ज़्यादा से ज़्यादा ६०० पृष्ठ की—इससे बड़ी नहीं। यह मार्क्सवादी अर्थशास्त्र पर ऐसी किताब होगी जिसमें इस विषय की तमाम आवश्यक बातें मिल जायंगी—और यह सभी देशों के नौजवान कम्युनिस्टों के लिये बहुत बढ़िया भेंट होगी।

साथ ही दूसरे देशों की अधिकांश कम्युनिस्ट पार्टियों के मार्क्सवादी विकास के नाकाफ़ी स्तर को देखते हुए इस तरह की पाठ्य-पुस्तक उन देशों के उन कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं के लिये भी बहुत उपयोगी हो सकती है जो अब नौजवान नहीं हैं।

१०. अर्थशास्त्र विषयक पाठ्य-पुस्तक के मसौदे को सुधारने के उपाय

बहस के दौरान में कुछ साथियों ने पाठ्य-पुस्तक के मसौदे की बड़ी सरगर्मी से "धज्जियाँ उड़ा दीं," गलतियों और भूलों के लिये उसके लेखकों को बहुत सख़्त-सुस्त कहा और दावा किया कि मसौदा असफल रहा।

यह अनुचित है। पाठ्य-पुस्तक में ग़लतियाँ और भूलें जरूर हैं—लगभग हर बड़े काम में ग़लतियाँ मिलती हैं। जो भी हो, बहस में हिस्सा लेनेवालों की बहुतायत फिर भी इस राय की थी कि मसौदा भावी पाठ्य-पुस्तक के लिये आधार का काम दे सकता है और उसमें सिर्फ़ कुछ चीज़ें सही करने और जोड़ने की ज़रूरत है। सचमुच अर्थशास्त्र पर जो पाठ्य-पुस्तकें अभी प्रचलित हैं, यदि उनसे इस मसौदे की तुलना भर की जाय तो साबित हो जायगा कि यह उनसे बाँसों ऊपर है। इसके लिये उसके लेखक भारी श्रेय के अधिकारी हैं।

मेरी समझ में पाठ्य-पुस्तक के मसौदे को सुधारने के लिये एक छोटी कमिटी नियुक्त करना ठीक होगा जिसमें न सिर्फ़ पाठ्य-पुस्तक के लेखक होंगे और न सिर्फ़ उसके समर्थक होंगे, बल्कि बहस में हिस्सा लेनेवालों के बहुमत के विरोधी भी होंगे, पाठ्य-पुस्तक के मसौदे के घोर आलोचक भी होंगे।

कमिटी में एक सुयोग्य संख्या-विशारद रखना भी ठीक होगा जो आँकड़ों को जाँच ले और मसौदे के लिये और भी आँकड़ों की सामग्री जुटाये। साथ ही एक सुयोग्य क़ानून विशारद भी हो जो देख ले कि स्थापनाएँ नपी-तुली हैं।

कमिटी के सदस्यों को अस्थायी रूप से अन्य सब कामों से छुट्टी दे देना चाहिये और उनकी ज़रूरतें अच्छी तरह पूरी करनी चाहिये जिससे कि वे सारा ध्यान पाठ्य-पुस्तक ही में लगायें।

इसके अलावा एक सम्पादकीय कमिटी, जिसमें तीन आदमी हो सकते हैं, नियुक्त करना ठीक होगा, जो पाठ्य-पुस्तक के अंतिम सम्पादन का काम सँभाले। यह इसलिये भी ज़रूरी है कि शैली में एकता रहे, जो दुर्भाग्य से पाठ्य-पुस्तक के मसौदे में नहीं है।

केन्द्रीय कमिटी को तैयार पाठ्य-पुस्तक देने की अवधि—एक साल।

१ फ़रवरी, १९५२ जे. स्तालिन

कॉमरेड अलेक्सान्द्र इलिच नोत्किन को जवाब

कॉमरेड नोत्किन,

मुझे जवाब देने की कोई जल्दी नहीं थी, इसलिये कि जो सवाल तुमने उठाये थे, उनमें मुझे कोई तात्कालिक ज़रूरत की बात नहीं दिखाई दी। और भी, इसलिये कि दूसरे सवाल थे जिनमें तात्कालिक ज़रूरत की बात ज़्यादा थी और जिन्होंने स्वभावतः तुम्हारे खत से ध्यान हटाया।

एक एक बात लेकर मैं जवाब देता चलूँगा।

पहली बात

"कुछ विचार" में यह कहा गया है कि विज्ञान के नियमों के विरुद्ध समाज असमर्थ नहीं है और मनुष्य आर्थिक नियमों को जानकर उन्हें समाज के हित में इस्तेमाल कर सकता है। तुम्हारा दावा है कि यह स्थापना दूसरी समाज-व्यवस्थाओं पर लागू नहीं की जा सकती, वह समाजवाद और कम्युनिज़्म के अन्तर्गत ही सार्थक है, और मसलन पूँजीवाद के अन्तर्गत आर्थिक क्रमों का अप्रतिहत रूप समाज के लिये यह

नामुमकिन कर देता है कि समाज के हित में आर्थिक नियम इस्तेमाल किये जा सकें।

यह सत्य नहीं है। मिसाल के लिये फ्रान्स में पूँजीवादी क्रान्ति के समय पूँजीपतियों ने सामन्तशाही के ख़िलाफ़ इस नियम को इस्तेमाल किया कि पैदावार के सम्बंधों को उत्पादक शक्तियों के लक्षण के अनुरूप होना ही चाहिये। उन्होंने पैदावार के सामन्ती सम्बंधों को ध्वस्त कर दिया, पैदावार के नये, पूँजीवादी सम्बंध बनाये, और सामन्ती व्यवस्था के उदर में उत्पादक शक्तियों का जो लक्षण बढ़ चुका था, उसके अनुरूप उन्हें बना दिया। पूँजीपति वर्ग ने यह इसलिये नहीं किया कि उसमें कोई विशेष योग्यता थी, बल्कि इसलिये कि ऐसा करने में उसे गहरी दिलचस्पी थी। सामन्तवादियों ने मूर्खतावश इसका विरोध नहीं किया, बल्कि इसलिये कि इस नियम को कारगर होने से रोकने में उन्हें गहरी दिलचस्पी थी।

हमारे देश की समाजवादी क्रांति के बारे में भी यही बात कही जानी चाहिये। मज़दूर वर्ग ने इस नियम को इस्तेमाल किया कि पैदावार के सम्बंधों को उत्पादक शक्तियों के लक्षण के अनुरूप होना ही चाहिये। उसने पैदावार के पूँजीवादी सम्बंधों को ध्वस्त कर दिया, पैदावार के नये सोशलिस्ट सम्बंध बनाये और उन्हें उत्पादक शक्तियों के लक्षण के अनुरूप बनाया। वह ऐसा कर सका, इसलिये नहीं कि उसमें कोई विशेष योग्यता थी, बल्कि इसलिये कि ऐसा करने में उसे गहरी दिलचस्पी थी। पूँजीवादी क्रान्ति के अभ्युदय काल की एक अग्रसर शक्ति होने के बदले अब पूँजीपति एक क्रान्ति-विरोधी शक्ति बन गये थे। उन्होंने इस नियम के कारगर होने का हर तरह से विरोध किया—और उन्होंने ऐसा इसलिये नहीं किया कि उनके पास संगठन नहीं था और इसलिये नहीं कि आर्थिक क्रमों के अप्रतिहत रूप ने उन्हें विरोध करने पर मजबूर किया था, बल्कि मुख्यतः इसलिये कि उनका इस बात में भारी हित था कि यह नियम लागू न हो।

फलस्वरूप :

१. आर्थिक क्रम, आर्थिक नियम, समाज के हित में कमोबेश काम में लाये जाते हैं—समाजवाद और कम्युनिज़्म ही में नहीं, बल्कि दूसरी सामाजिक व्यवस्थाओं में भी।

२. वर्ग–समाज में हमेशा और हर कहीं आर्थिक नियमों के उपयोग की एक वर्ग पृष्ठभूमि होती है। और भी, हमेशा और हर कहीं समाज के हित में आर्थिक नियमों के उपयोग का हामी आगे बढ़ा हुआ वर्ग होता है जब कि पुराने पड़ चुके वर्ग उसका विरोध करते हैं।

इतिहास के दौर में किसी भी समय, जिन दूसरे वर्गों ने पैदावार के सम्बंधों में क्रान्तिकारी परिवर्तन किया है, उनमें और सर्वहारा वर्ग में इस विषय में भेद यह है कि सर्वहारा वर्ग के वर्ग-हित समाज की बहुतायत के हितों से घुलमिल जाते हैं, क्योंकि सर्वहारा क्रान्ति का मतलब शोषण के इस या उस रूप का ख़ात्मा नहीं होता, बल्कि तमाम शोषण का ख़ात्मा होता है। उधर दूसरे वर्गों की क्रान्तियाँ, जिन्होंने शोषण के सिर्फ़ इस या उस रूप को ख़त्म किया, उनके संकीर्ण वर्ग-हितों में बन्द रहीं और ये वर्ग-हित समाज की बहुतायत के हितों से टक्कर खाते थे।

"कुछ विचार" में समाज के हित में आर्थिक नियमों के उपयोग की वर्ग-पृष्ठभूमि की बात कही गयी है। वहाँ कहा गया है कि "प्राकृतिक विज्ञान के नियमों के विपरीत, जहां पर एक नये नियम का पता लगाने और उसे लागू करने का काम बहुत कुछ सीधे-सीधे हो जाता है, आर्थिक क्षेत्र में एक नये नियम का पता लगाने और उसे लागू करने के काम को, जिसका असर समाज की पुरानपंथी ताक़तों के स्वार्थों पर पड़ता ही है, उनके बहुत ही तगड़े विरोध का सामना करना पड़ता है।" यह बात तुम्हारी निगाह से चूक गयी।

दूसरी बात

तुम्हारा दावा है कि उत्पादक शक्तियों के लक्षण से पैदावार के सम्बंधों की पूरी अनुरूपता समाजवाद और कम्युनिज़्म में ही संभव है और दूसरी व्यवस्थाओं में अनुरूपता आंशिक ही हो सकती है।

यह सत्य नहीं है। पूँजीवादी क्रान्ति के बाद के युग में जब कि पूँजीपतियों ने पैदावार के सामन्ती सम्बंध ध्वस्त कर दिये थे और पैदावार के पूँजीवादी सम्बंध क़ायम कर दिये थे, ऐसे दौर ज़रूर आये जब पूँजीवादी उत्पादन-सम्बंध उत्पादक शक्तियों के लक्षण के पूरी तरह अनुरूप थे। नहीं तो, पूँजीवादी क्रान्ति के बाद पूँजीवाद उस तेज़ी से न बढ़ा होता जिस तेज़ी से कि वह बढ़ा।

इसके अलावा "पूरी अनुरूपता"—इन शब्दों को अपने सम्पूर्ण अर्थ में न लेना चाहिये। उनका यह अर्थ न लगाना चाहिये कि समाजवाद में पैदावार के सम्बंध उत्पादक शक्तियों के पीछे नहीं रह जाते। उत्पादक शक्तियां पैदावार की सबसे गतिशील और क्रान्तिकारी शक्तियां हैं। निस्सन्देह वे समाजवाद में भी पैदावार के सम्बंधों के आगे चलती हैं। कुछ समय बीतने के बाद ही उत्पादक शक्तियों के लक्षण के अनुरूप पैदावार के सम्बंध बदलते हैं।

तब "पूरी अनुरूपता"—इन शब्दों को किस अर्थ में लिया जाय? उनका यह अर्थ लिया जाय कि समाजवाद में पैदावार के सम्बंधों और उत्पादक शक्तियों के बीच टक्कर की नौबत नहीं आती, समाज वक्त से ऐसे उपाय कर सकता है कि पीछे पड़ते हुए पैदावार के सम्बंध, उत्पादक शक्तियों के लक्षण के अनुरूप बना दिये जायँ। सोशलिस्ट समाज ऐसा कर सकता है, इसलिये कि उसमें ऐसे मृतप्राय वर्ग नहीं हैं जो विरोध संगठित कर सकें। यह ठीक है कि समाजवाद में भी ऐसी पिछड़ी हुई,

जड़ शक्तियां होंगी जो पैदावार के सम्बंधों को बदलने की ज़रूरत महसूस नहीं करतीं, लेकिन ज़ाहिर है कि टक्कर की नौबत आए बिना ही उन पर क़ाबू पाना मुश्किल न होगा।

तीसरी बात

तुम्हारी दलील से मालूम होता है कि तुम पैदावार के साधनों को, और सबसे पहले पैदावार के औज़ारों को, बिकाऊ माल समझते हो जिन्हें वे कारखाने तैयार करते हैं जिनका राष्ट्रीकरण हो चुका है।

क्या हमारी समाज-व्यवस्था में पैदावार के साधन बिकाऊ माल समझे जा सकते हैं? मेरा विचार है कि हर्गिज़ नहीं।

बिकाऊ माल उस उपज को कहते हैं जो किसी भी ख़रीदार को बेची जा सके और जब उसका मालिक उसे बेच देता है, तो वह उसकी मिल्कियत खो देता है और ख़रीदार उसका मालिक बन जाता है और वह उसे चाहे फिर बेचे, चाहे गिरवीं रख दे, चाहे सड़ने दे। क्या पैदावार के साधन इस कोटि में आते हैं? ज़ाहिर है, नहीं आते। पहले तो पैदावार के साधन किसी ख़रीदार को "बेचे" नहीं जाते, वे पंचायती खेतों तक को "बेचे" नहीं जाते; राज्य उन्हें अपने उद्योगों में सिर्फ़ वितरित कर देता है। दूसरे, पैदावार के साधन जब किसी उद्योग को सौंपे जाते हैं तो उनका मालिक—राज्य—उनकी मिल्कियत ज़रा भी नहीं खोता; इसके विपरीत वह उसे पूरी तरह हाथ में रखता है। तीसरे, सोवियत राज्य से जो उद्योग-संचालक पैदावार के साधन हासिल करते हैं, उनका मालिक बनना तो दूर रहा, वे राज्य के एजेंट समझे जाते हैं जो राज्य द्वारा निश्चित योजनाओं के अनुसार पैदावार के साधनों को काम में लाते हैं।

इससे स्पष्ट है कि हमारी व्यवस्था में, निश्चय ही, पैदावार के साधन बिकाऊ माल की कोटि में नहीं रखे जा सकते।

बात ऐसी है तो हम पैदावार के साधनों के मूल्य, उनको बनाने के खर्च, उनकी क़ीमत वग़ैरह की बात क्यों करते हैं ?

दो कारणों से ।

पहले तो इसकी ज़रूरत पड़ती है—हिसाब और बन्दोबस्त के लिये, यह तै करने के लिये कि उद्योग घाटे में चल रहे हैं या उनसे पैसा मिलता है, उद्योगों की जाँच-पड़ताल और उन्हें नियंत्रित रखने के लिये । लेकिन यह तो विषय का केवल रूप-सम्बंधी पहलू है ।

दूसरे, इसकी ज़रूरत पड़ती है—विदेशी व्यापार के हित में, दूसरे देशों के हाथ पैदावार के साधनों की बिक्री करने के लिये । यहाँ पर, वैदेशिक व्यापार के क्षेत्र में, लेकिन **सिर्फ़ इसी क्षेत्र में**, हमारे पैदावार के साधन दरअसल बिकाऊ माल हैं और सचमुच बेचे जाते हैं (सही माने में शाब्दिक अर्थ में) ।

इसलिये नतीजा यह निकलता है कि वैदेशिक व्यापार-क्षेत्र में हमारे उद्योगों के बने हुए पैदावार के साधन तात्विक दृष्टि से, और रूप की दृष्टि से भी, बिकाऊ माल की विशेषताएँ क़ायम रखते हैं । लेकिन घरेलू आर्थिक प्रचलन के क्षेत्र में पैदावार के साधन बिकाऊ माल की विशेषताएँ खो देते हैं, बिकाऊ माल नहीं रह जाते और मूल्य के नियम के व्यापार-क्षेत्र के बाहर निकल जाते हैं, बिकाऊ माल का ऊपरी खोल भर उनके पास रह जाता है (हिसाब, वग़ैरह) ।

इस विशेषता का कारण क्या है ?

असल में बात यह है कि हमारी समाजवादी परिस्थितियों में आर्थिक विकास विस्फोटों द्वारा नहीं होता, बल्कि क्रमशः परिवर्तनों द्वारा होता है । प्राचीन का आमूल ध्वंस नहीं होता, बल्कि नये के अनुकूल बनते हुए वह अपनी प्रकृति बदलता है और अपना रूप भर क़ायम रखता है । उधर नवीन सीधे-सीधे प्राचीन का ध्वंस नहीं करता, बल्कि उसमें सेंध

मारकर घुस जाता है, उसकी प्रकृति और कार्यों को बदल देता है, उसके रूप का नाश नहीं करता, बल्कि नवीन के विकास के लिये उसे काम में लाता है। हमारे आर्थिक प्रचलन में यह बात बिकाऊ माल पर ही लागू नहीं होती, बल्कि मुद्रा पर भी लागू होती है, बैंकों पर भी लागू होती है जो अपने पुराने कार्य छोड़ देते हैं और नये ग्रहण कर लेते हैं, फिर भी वे अपने पुराने रूप को क़ायम रखते हैं जिसे समाजवादी व्यवस्था काम में लाती है।

इस विषय पर अगर रूपवादी दृष्टिकोण से विचार किया जाय, संघटनों की सतह पर होनेवाले क्रमों के दृष्टिकोण से विचार किया जाय, तो इस ग़लत नतीजे पर पहुँचा जा सकता है कि पूँजीवाद की कोटियाँ हमारे अर्थतंत्र में भी अपनी सार्थकता क़ायम रखती हैं। लेकिन अगर विषय पर मार्क्सवादी विश्लेषण की निगाह से विचार किया जाय, जो निगाह एक आर्थिक क्रम के तत्व और उसके रूप में सख़्ती के साथ भेद करती है, विकास के गंभीर क्रमों और सतही संघटनों में भेद करती है, तो इसी सही नतीजे पर पहुँचा जायगा कि मुख्यतः पूँजीवाद की पुरानी कोटियों का रूप ही, उनका बाहरी वेश ही, हमारे देश में बाक़ी रहा है, लेकिन समाजवादी अर्थतंत्र के विकास की आवश्यकताओं के अनुकूल बनने के दौरान में उनका तत्व मौलिक रूप से बदल गया है।

चौथी बात

तुम्हारा दावा है कि मूल्य का नियम उन "पैदावार के साधनों" की क़ीमतों पर एक नियामक प्रभाव डालता है जिन्हें कृषि पैदा करती है और राज्य को वसूली की दर पर दे देती है। तुमने इस तरह के "पैदावार के साधनों" को कच्चा माल कहा है—मसलन कपास। सन, ऊन और दूसरे खेतिहर कच्चे माल को भी तुम जोड़ सकते थे।

सबसे पहले तो इस बात पर ध्यान देना चाहिये कि यहाँ पर कृषि "पैदावार के साधन" नहीं पैदा करती, बल्कि पैदावार का सिर्फ़ एक साधन—कच्चा माल—पैदा करती है। "पैदावार के साधनों"—इन शब्दों के साथ क़लाबाज़ी न करनी चाहिये। जब मार्क्सवादी पैदावार के साधनों के उत्पादन की बात करते हैं तो सबसे पहले उनका मतलब पैदावार के औज़ारों के उत्पादन से होता है, जिन्हें मार्क्स ने "श्रम के साधन" कहा है, "जो यांत्रिक ढंग के होते हैं और जिन्हें कुल मिलाकर हम पैदावार की अस्थियाँ और माँस-पेशियाँ कह सकते हैं," जिनमें "पैदावार के किसी युग की विशेषताएँ" निहित होती हैं। पैदावार के साधनों के एक हिस्से को (कच्चे माल को) पैदावार के साधनों, जिनमें पैदावार के औज़ार भी शामिल हैं, के बराबर कर देना मार्क्सवाद के प्रति अपराध करना है क्योंकि मार्क्सवाद के अनुसार पैदावार के और सभी साधनों के मुक़ाबले में पैदावार के औज़ार निर्णयकारी भूमिका अदा करते हैं। हर कोई जानता है कि कच्चा माल अपने आप पैदावार के औज़ार पैदा नहीं कर सकता, हालाँकि कुछ क़िस्मों का कच्चा माल, पैदावार के औज़ार बनाने के लिये ज़रूरी होता है, लेकिन पैदावार के औज़ारों के बिना कोई भी कच्चा माल पैदा नहीं किया जा सकता।

और भी : कृषि से पैदा हुए कच्चे माल की क़ीमत पर मूल्य के नियम का असर क्या **नियामक** होता है जैसा कि कॉ. नोत्किन, तुम्हारा दावा है? यह असर नियामक होता अगर हमारे देश में खेती के कच्चे माल की क़ीमतों को पूरी "छूट" होती, अगर होड़ और उत्पादन में अराजकता का नियम हावी होता, अगर हमारे यहाँ संयोजित आर्थिक व्यवस्था न होती और अगर कच्चे माल की पैदावार योजना द्वारा नियमित न होती। लेकिन चूँकि हमारी आर्थिक व्यवस्था से ये सब "अगर" ग़ायब हैं, इसलिये खेतिहर कच्चे माल की क़ीमतों पर

मूल्य के नियम का प्रभाव नियामक नहीं हो सकता। पहले तो हमारे देश में खेतिहर कच्चे माल की क़ीमतें निश्चित हैं, योजना द्वारा मुक़र्रर की गई हैं और उन्हें "छूट" नहीं है। दूसरे, पैदा किये हुए खेतिहर कच्चे माल की मात्रा स्वतः निश्चित नहीं होती या आकस्मिक तत्वों पर निर्भर नहीं होती, बल्कि योजना से निश्चित होती है। तीसरे, खेतिहर कच्चा माल पैदा करने के लिये पैदावार के ज़रूरी औज़ार कुछ व्यक्तियों या समूहों के हाथ में केन्द्रित नहीं होते, बल्कि राज्य के हाथ में होते हैं। फिर इसके बाद मूल्य के नियम की नियामक क्रिया में क्या बच रहता है? मालूम होता है कि समाजवादी पैदावार की इन उपर्युक्त विशेषताओं से मूल्य का नियम स्वयं नियमित होता है।

फलस्वरूप, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि मूल्य का नियम खेतिहर कच्चे माल की क़ीमतों के निश्चित होने पर प्रभाव डालता है, कि वह इस क्रिया में एक उपकरण है। लेकिन इससे भी कम इस बात से इन्कार किया जा सकता है कि इसका प्रभाव नियामक नहीं है, और हो भी नहीं सकता है।

पाँचवीं बात

"कुछ विचार" में जहाँ मैंने सपाजवादी राष्ट्रीय अर्थतंत्र के लाभदायीपन की चर्चा की है, वहाँ मैं कुछ साथियों का प्रतिवाद कर रहा था जिनका कहना है कि लाभदायी उद्योगों को बहुत ज़्यादा तरजीह न देने से और उनके साथ-साथ ग़ैर-लाभदायी उद्योगों को बनाये रखने से हमारा नियोजित अर्थतंत्र, आर्थिक उद्योगों के लाभदायीपन के सिद्धान्त को ही मिट्टी में मिला देता है। "कुछ विचार" में कहा गया है कि अलग-थलग उद्योगों या कारख़ानों के विचार से आँका गया लाभदायीपन कहीं ठहरता ही नहीं है, जब हम लाभदायीपन के उस उच्चतर रूप से उसकी तुलना करते हैं जो हमें पैदावार की समाजवादी पद्धति से

मिलता है और जो हमें अति-पैदावार के संकटों से बचाता है और हमारे लिये पैदावार का निरन्तर प्रसार निश्चित कर देता है।

लेकिन इससे यह नतीजा निकालना भूल होगी कि अलग-थलग उद्योगों और कारख़ानों के लाभदायीपन का कोई महत्व नहीं है और उस पर गंभीरता से विचार न करना चाहिये। ज़ाहिर है कि यह सत्य नहीं है। हमारे उद्योग-धंधों के विकास के लिये अलग-थलग कारख़ानों और उद्योगों के लाभदायीपन का भारी महत्व है। जब हम निर्माण की योजना बनायें और जब पैदावार की योजना बनायें तब इसे ध्यान में रखना चाहिये। विकास की मौजूदा मंज़िल में हमारी आर्थिक कार्यवाही की यह एक प्राथमिक आवश्यकता है।

छठी बात

यह साफ़ नहीं है कि पूँजीवाद के सिलसिले में तुम्हारे शब्द "अति-विकृत वेश में विस्तारित पैदावार" किस अर्थ में लिये जायँ। यह कह देना चाहिये कि इस तरह की पैदावार, और वह भी विस्तारित पैदावार, प्रकृति में नहीं पायी जाती।

यह स्पष्ट है कि दुनिया का बाज़ार जब विभाजित हो गया है और बड़े पूँजीवादी देशों (अमरीका, ब्रिटेन, फ्रान्स) द्वारा दुनिया के साधनों का शोषण-क्षेत्र संकुचित होने लगा है, तब पूँजीवाद के विकास की ज्वार-भाटेवाली विशेषता—पैदावार का प्रसार और संकुचित होना—लागू होती ही रहेगी। फिर भी इन देशों में पैदावार का प्रसार अधिक संकुचित आधार पर होगा क्योंकि इन देशों में पैदावार की मात्रा कम हो जायगी।

सातवीं बात

विश्व पूँजीवादी व्यवस्था का आम संकट पहले महायुद्ध के दौर में आरंभ हुआ, ख़ास तौर से पूँजीवादी व्यवस्था से सोवियत संघ के अलग कट जाने के कारण। आम संकट की वह पहली मंज़िल थी। आम संकट की दूसरी मंज़िल दूसरे महायुद्ध के दौर में पैदा हुई, ख़ास करके पूँजीवादी व्यवस्था से योरप और एशिया के जनवादी देशों (पीपुल्स डिमॉक्रेसी) के अलग हो जाने के बाद। पहले महायुद्ध के दौर में आनेवाले पहले संकट को और दूसरे महायुद्ध के दौर में आनेवाले दूसरे संकट को एक दूसरे से अलग, असम्बद्ध और स्वतंत्र न समझना चाहिये, बल्कि उन्हें विश्व पूँजीवादी व्यवस्था के आम संकट के विकास की मंज़िलें समझना चाहिये।

क्या विश्व पूँजीवाद का आम संकट सिर्फ़ एक राजनीतिक संकट या सिर्फ़ एक आर्थिक संकट है? न यह है, न वह। यह विश्व पूँजीवादी व्यवस्था का आम, यानी चौतरफा संकट है जिसकी लपेट में आर्थिक और राजनीतिक दोनों क्षेत्र आ जाते हैं। और यह स्पष्ट है कि इसकी जड़ में एक तरफ़ विश्व पूँजीवाद की आर्थिक व्यवस्था की नित बढ़ती हुई जर्जरता है तो दूसरी तरफ़ पूँजीवाद से अलग हो चुके देशों— सोवियत संघ, चीन और दूसरे जनवादी देशों की बढ़ती हुई आर्थिक शक्ति है।

२१ अप्रैल, १९५२ जे. स्तालिन

कॉमरेड ल. द. यारोशेंको की ग़लतियों के सम्बंध में

कुछ दिन हुए सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) की केन्द्रीय कमिटी की पोलीटिकल ब्यूरो के पास कॉमरेड यारोशेंको का २० मार्च, १९५२ का पत्र आया जिसमें कई उन आर्थिक मसलों का ज़िक्र था जिन पर नवम्बर के विवाद में बहस की गई थी। ख़त लिखनेवाले को शिकायत है कि बहस का सारतत्व बतानेवाले बुनियादी दस्तावेज़ों में और कॉमरेड स्तालिन के "कुछ विचार" में कॉमरेड यारोशेंको के "मत की ज़रा सी भी झलक नहीं है"। कॉमरेड यारोशेंको ने अपने नोट में यह सुझाव भी रखा है कि उन्हें "समाजवाद का अर्थशास्त्र" लिखने की अनुमति दी जाय जिसे वह साल या डेढ़ साल में ख़तम कर लेंगे और इस काम में मदद देने के लिये उन्हें दो सहायक दिये जायँ।

मेरी समझ में कॉमरेड यारोशेंको की शिकायत और उनके सुझाव, दोनों ही पर उनकी ख़ूबियों के दृष्टिकोण से, विचार करना चाहिये।

पहले उनकी शिकायत को लें।

हाँ, तो कॉमरेड यारोशेंको का वह "मत" कौन सा है जिसकी झलक उपर्युक्त दस्तावेज़ों में नहीं मिलती ?

१. कॉमरेड यारोशेंको की मुख्य ग़लती

कॉमरेड यारोशेंको के मत को दो शब्दों में बयान करें तो कहेंगे कि वह ग़ैर-मार्क्सवादी है—और इसलिये नितान्त भ्रमपूर्ण है।

कॉमरेड यारोशेंको की मुख्य ग़लती यह है कि समाज के विकास में पैदावार के सम्बंधों और उत्पादक शक्तियों की भूमिका के सवाल पर वह मार्क्सवादी स्थिति को छोड़ देते हैं, उत्पादक शक्तियों की भूमिका को बेहद बढ़ा-चढ़ाकर आँकते हैं और वैसे ही वह पैदावार के साधनों की भूमिका को बेहद कम करके आँकते हैं और अन्त में यह घोषित करते हैं कि समाजवाद के अन्तर्गत पैदावार के सम्बंध, उत्पादक शक्तियों का ही एक अंग बन जाते हैं।

"विरोधी वर्ग असंगतियों" की हालत में कॉमरेड यारोशेंको पैदावार के सम्बंधों की कुछ भूमिका स्वीकार कर लेते हैं क्योंकि उस हालत में पैदावार के सम्बंध "उत्पादक शक्तियों के विकास के विरुद्ध जा पड़ते हैं"। लेकिन वह इसे विशुद्ध निषेधात्मक भूमिका तक ही सीमित रखते हैं, एक ऐसे उपकरण की भूमिका तक जो उत्पादक शक्तियों के विकास को रोकता है, उनके विकास में रुकावट डालता है। इसके सिवा पैदावार के सम्बंधों के और किसी उद्देश्यात्मक काम को कॉमरेड यारोशेंको नहीं देख पाते।

जहाँ तक समाजवादी व्यवस्था का सम्बंध है, जहाँ "विरोधी वर्ग असंगतियाँ" अब नहीं हैं और जहाँ अब पैदावार के सम्बंध "उत्पादक शक्तियों के विकास के विरुद्ध नहीं जा पड़ते हैं," वहां कॉमरेड यारोशेंको के अनुसार पैदावार के सम्बंधों की स्वतंत्र भूमिका का कोई नामनिशान भी नहीं रहता, वे विकास का कोई महत्वपूर्ण उपकरण नहीं रहते और उत्पादक शक्तियों द्वारा समेट लिये जाते हैं और उन्हीं

का एक अंग बन जाते हैं। कॉमरेड यारोशेंको कहते हैं कि समाजवाद में "इन्सानों के उत्पादन-सम्बंध, उत्पादक शक्तियों के संगठन के एक हिस्से, एक साधन के रुप में उनके संगठन का ही एक तत्व बन जाते हैं।" (केन्द्रीय कमिटी के पोलीटिकल ब्यूरो को कॉमरेड यारोशेंको का ख़त)

अगर बात ऐसी है तो समाजवाद के अर्थशास्त्र का मुख्य काम क्या है? कॉमरेड यारोशेंको जवाब देते हैं: "इसलिये, समाजवाद के अर्थशास्त्र की मुख्य समस्या सोशलिस्ट समाज के सदस्यों के उत्पादन-सम्बंधों की छानबीन करना **नहीं है**; **वह है**—सामाजिक पैदावार में उत्पादक शक्तियों के संगठन के वैज्ञानिक सिद्धान्त को, आर्थिक विकास को आयोजित करने के सिद्धान्त को, प्रतिपादित और विकसित करना।" (प्लीनरी बहस में कॉमरेड यारोशेंको का भाषण)

दरअसल इससे पता चल जाता है कि कॉमरेड यारोशेंको को समाजवादी व्यवस्था के इन आर्थिक मसलों से दिलचस्पी क्यों नहीं है—जैसे, हमारी आर्थिक व्यवस्था में सम्पत्ति के विभिन्न रूपों का होना, बिकाऊ माल का चलन, मूल्य का नियम, इत्यादि। इन्हें, वह ऐसे छोटे-मोटे सवाल समझते हैं जो सिर्फ़ क़ानूनी बहस पैदा करते हैं। वह साफ़-साफ़ कहते हैं कि उनके समाजवाद के अर्थशास्त्र में "मूल्य, बिकाऊ माल, मुद्रा, उधार, आदि समाजवादी अर्थशास्त्र की किसी ख़ास कोटि की भूमिका पर विवाद के **बदले**—जो बहुधा हमारे बीच क़ानूनी बहस के रुप में होता है—सामाजिक पैदावार में उत्पादक शक्तियों के बुद्धिसंगत संगठन पर स्वस्थ बहस होगी, ऐसे संगठनों की सार्थकता का वैज्ञानिक प्रदर्शन होगा।" (बहस की वर्किंग पैनेल में कॉमरेड यारोशेंको का भाषण)

संक्षेप में यह कि ऐसा अर्थशास्त्र हो जिसमें आर्थिक समस्याएँ न हों।

कॉमरेड यारोशेंको का विचार है कि "उत्पादक शक्तियों का बुद्धिसंगत संगठन" करना भर ज़रूरी है, उसके बाद समाजवाद से

कम्युनिज़्म में संक्रमण बिना किसी कठिनाई के पूरा हो जायगा। उनकी राय में कम्युनिज़्म तक पहुँचने के लिये बस इतना ही बिल्कुल काफ़ी है। वह साफ़ साफ़ ऐलान करते हैं कि "समाजवाद के अन्तर्गत, कम्युनिस्ट समाज के निर्माण का मौलिक संघर्ष, उत्पादक शक्तियों के उचित संगठन और सामाजिक पैदावार में उनके बुद्धिसंगत उपयोग के संघर्ष तक ही सीमित रह जाता है।" (प्लीनरी बहस में भाषण) कॉमरेड यारोशेंको गंभीरता से कहते हैं कि "कम्युनिज़्म, सामाजिक पैदावार में उत्पादक शक्तियों का सर्वोच्च वैज्ञानिक संगठन है।"

तब तो ऐसा लगता है कि कम्युनिस्ट व्यवस्था का तत्व "उत्पादक शक्तियों के बुद्धिसंगत संगठन" से शुरू होता और उसी पर खत्म हो जाता है।

इस सबसे कॉमरेड यारोशेंको यह नतीजा निकालते हैं कि सभी समाज-व्यवस्थाओं के लिये एक ही अर्थशास्त्र नहीं हो सकता। अर्थशास्त्र दो होने चाहिये, एक तो समाजवाद से पहले की समाज–व्यवस्थाओं के लिये जिसका विषय इन्सान के उत्पादन-सम्बंधों की खोजबीन होगी, दूसरा समाजवादी व्यवस्था के लिये जिसका खोजबीन का विषय पैदावार के आर्थिक सम्बंध नहीं, बल्कि उत्पादन शक्तियों का बुद्धिसंगत सम्बंध, यानी संगठन होगा।

कॉमरेड यारोशेंको का मत इस तरह का है।

इस मत के बारे में क्या कहा जा सकता है?

पहले तो यह सत्य नहीं है कि समाज के इतिहास में उत्पादन सम्बंधों की भूमिका एक अवरोध तक, उत्पादक शक्तियों के विकास में एक बाधा तक सीमित रहती है। जब मार्क्सवादी उत्पादन-सम्बंधों की प्रतिगामी भूमिका की बात करते हैं, तब उनका मतलब सभी उत्पादन

सम्बंधों से नहीं होता बल्कि सिर्फ़ पुराने उत्पादन-सम्बंधों से होता है जो उत्पादक शक्तियों के विकास के अनुरूप अब नहीं रहे और इसलिये उनके विकास को रोकते हैं। लेकिन जैसा हम जानते हैं कि पुरानों के साथ नये उत्पादन-सम्बंध भी होते हैं जो पुरानों की जगह ले लेते हैं। क्या यह कहा जा सकता है कि नये उत्पादन-सम्बंधों की भूमिका, उत्पादक शक्तियों की बाधक बनने की है? नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत, नये उत्पादन-सम्बंध **मुख्य** और निर्णयकारी शक्ति हैं, ऐसी शक्ति जो दरअसल उत्पादक शक्तियों के अगले, और इसके अलावा, समर्थ विकास को निश्चित करती है और जिसके बिना ये शक्तियाँ सड़ने-गलने को रह जायँगी जैसा कि आज पूँजीवादी देशों में हो रहा है।

इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान में हमारे सोवियत उद्योगों की उत्पादक शक्तियों के विकास ने लम्बे डग भरे हैं। लेकिन यह विकास हो न पाता अगर हमने अक्तूबर १९१७ में पैदावार के पुराने पूँजीवादी सम्बंधों के बदले नये समाजवादी उत्पादन-सम्बंध क़ायम न किये होते। हमारे देश के उत्पादन-सम्बंधों में, आर्थिक सम्बंधों में इस क्रान्ति के बिना हमारी उत्पादन शक्तियाँ सड़ती-गलती रहतीं जैसे वे आज पूँजीवादी देशों में सड़-गल रही हैं।

इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि पिछले बीस-पच्चीस साल में हमारी खेती की उत्पादक शक्तियों ने लम्बे डग भरे हैं। लेकिन यह विकास हो न पाता अगर हमने सन् १९३०-४० के दौरान में देहात के पुराने, पूँजीवादी उत्पादन-सम्बंधों के बदले नये, सामूहिक उत्पादन-सम्बंध क़ायम न किये होते। पैदावार में इस क्रान्ति के बिना हमारी खेती की उत्पादक शक्तियाँ ठीक वैसे ही सड़ती-गलती रहतीं, जैसे वे आज पूँजीवादी देशों में सड़-गल रही हैं।

यह ठीक है कि नये उत्पादन-सम्बंध हमेशा नये नहीं रहते और न रह सकते हैं; वे पुराने पड़ने लगते हैं और उत्पादक शक्तियों के अगले विकास के आड़े आने लगते हैं; वे उत्पादक शक्तियों को आगे बढ़ाने वाली प्रमुख शक्ति की भूमिका खोने लगते हैं और उनके लिये रुकावट डालनेवाले बन जाते हैं। इस मौके पर, इन पुराने पड़ चुके उत्पादन-सम्बंधों के बदले पैदावार के नये सम्बंध सामने आते हैं। उनकी भूमिका यह होती है कि वे उत्पादक शक्तियों के अगले विकास में प्रेरणा देनेवाली मुख्य शक्ति बनें।

उत्पादक शक्तियों के लिये रुकावट होने की भूमिका से लेकर उन्हें आगे बढ़ानेवाली मुख्य शक्ति की भूमिका तक और मुख्य शक्ति की भूमिका से उत्पादक शक्तियों के लिये रुकावट होने की भूमिका तक—पैदावार के सम्बंधों का यह विशेष विकास मार्क्सवादी भौतिकवादी द्वन्द्व का एक प्रमुख तत्व है। आजकल मार्क्सवाद का ककहरा जाननेवाला हर व्यक्ति इस बात को जानता है। लेकिन मालूम होता है कि कॉमरेड यारोशेंको यह नहीं जानते।

दूसरे, यह सत्य नहीं है कि समाजवाद में पैदावार के, यानी आर्थिक, सम्बंधों की स्वतंत्र भूमिका खत्म हो जाती है, वे उत्पादक शक्तियों में समेट लिये जाते हैं और समाजवाद में सामाजिक पैदावार, उत्पादक शक्तियों के संगठन तक सीमित रह जाती है। मार्क्सवाद के अनुसार, सामाजिक पैदावार एक सुसम्बद्ध इकाई है जिसके दो अभिन्न पहलू होते हैं: समाज की उत्पादक शक्तियाँ (समाज का उन प्राकृतिक शक्तियों से सम्बंध जिनसे संघर्ष करते हुए वह अपने लिये आवश्यक भौतिक मूल्य प्राप्त करता है), और उत्पादन-सम्बंध (उत्पादन के क्रम में मनुष्यों के परस्पर सम्बंध)। ये सामाजिक पैदावार के दो अलग-अलग पहलू हैं, हालाँकि वे दोनों एक दूसरे से अभिन्न रूप से जुड़े हुए हैं। और ठीक इसीलिये कि वे सामाजिक पैदावार के विभिन्न पहलू हैं, वे एक दूसरे पर प्रभाव डाल सकते हैं। यह दावा करना कि इनमें से एक पहलू

दूसरे में समेटा जा सकता है और उसका एक अंग बनाया जा सकता है, मार्क्सवाद के विरुद्ध बहुत बड़ा अपराध करना है।

मार्क्स ने कहा था :

"पैदावार में मनुष्य प्रकृति पर ही नहीं, एक दूसरे पर भी क्रियाशील होते हैं। वे किसी विशेष तरीक़े से सहयोग करके ही और अपनी कार्यवाहियों का विनिमय करके ही पैदावार करते हैं। पैदावार करने के लिये वे निश्चित नातों और सम्बंधों में परस्पर बँध जाते हैं और इन सामाजिक नातों और सम्बंधों के भीतर ही प्रकृति पर उनकी क्रियाशीलता हो पाती है, उत्पादन हो पाता है।"
(कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स, खंड ५, पृ. ४२९)

फलतः, सामाजिक पैदावार के दो पहलू होते हैं जो यद्यपि परस्पर अभिन्न रूप से जुड़े हुए हैं, फिर भी वे सम्बंधों की दो अलग कोटियाँ प्रतिबिंबित करते हैं : प्रकृति से मनुष्य के सम्बंध (उत्पादक शक्तियाँ), और पैदावार के क्रम में मनुष्यों के परस्पर सम्बंध (उत्पादन सम्बंध)। पैदावार के जब दोनों ही पहलू मौजूद होते हैं, तभी सामाजिक पैदावार मुमकिन होती है, वह चाहे समाजवादी व्यवस्था में हो, चाहे और किसी समाज-व्यवस्था में।

कॉमरेड यारोशेंको, ज़ाहिर है, पूरी तरह मार्क्स से सहमत नहीं हैं। उनका विचार है कि मार्क्सवाद की यह स्थापना समाजवादी व्यवस्था पर लागू नहीं होती। यही कारण है कि वह समाजवाद के अर्थशास्त्र की समस्या को उत्पादक शक्तियों के बुद्धिसंगत संगठन तक सीमित कर देते हैं, उत्पादन के सम्बंधों को, आर्थिक सम्बंधों को ठुकरा देते हैं और उत्पादक शक्तियों को उनसे अलग कर देते हैं।

अगर हम कॉमरेड यारोशेंको की बात मानकर चलें तो मार्क्सवादी अर्थशास्त्र के बदले हमें बोग्दानोव के "विश्वव्यापी संगठनात्मक विज्ञान" जैसी कोई चीज़ हाथ लगेगी।

इसलिये, इस सही धारणा से शुरू करके कि उत्पादक शक्तियाँ पैदावार की सबसे गतिशील और क्रान्तिकारी शक्तियाँ हैं, कॉमरेड यारोशेंको ने उस धारणा को बेसिर-पैर की चीज़ बना दिया है, यहाँ तक कि समाजवाद के अन्तर्गत उत्पादन सम्बंधों, आर्थिक सम्बंधों की भूमिका को ही अस्वीकार कर दिया है; और भरे-पूरे सामाजिक उत्पादन के बदले उनके हाथ लगा है पैदावार का एकांगी और सूखा-साखा कौशल— बुख़ारिन के " सामाजिक संगठन के कौशल " जैसी कोई चीज़।

मार्क्स का कहना है :

" अपने जीवन में मनुष्य जो सामाजिक उत्पादन करते हैं [यानी मनुष्यों के जीवन के लिये आवश्यक भौतिक मूल्यों का जो उत्पादन करते हैं—**जे. स्ता.**], उसमें वे ऐसे निश्चित सम्बंध स्थापित करते हैं जो अनिवार्य और उनकी इच्छा से स्वतंत्र होते हैं; ऐसे उत्पादन-सम्बंध जो पैदावार की भौतिक शक्तियों के विकास की एक निश्चित अवस्था के अनुकूल होते हैं। इन उत्पादन-सम्बधों का योग ही समाज का वह ढाँचा है, वह असली नीव है, जिस पर राजनीति और क़ानून की भारी इमारत खड़ी रहती है और उसी ढाँचे के अनुरूप सामाजिक चेतना के विभिन्न रूप भी निश्चित होते हैं।" (**अर्थशास्त्र की आलोचना को एक देन**, भूमिका)

इसका मतलब है कि हर समाज-व्यवस्था की अपनी आर्थिक बुनियाद होती है। सोशलिस्ट समाज इस नियम का अपवाद नहीं है। यह बुनियाद मनुष्य के उत्पादन-सम्बंधों का कुल जोड़ होती है। सवाल है कि कॉमरेड यारोशेंको के लिये यह आर्थिक बुनियाद क्या हो जाती है ? जैसा कि हमें मालूम है, कॉमरेड यारोशेंको ने समाजवाद के अन्तर्गत पैदावार के सम्बंधों को बहुत-कुछ एक स्वतंत्र क्षेत्र के रूप में पहले ही उड़ा दिया है और उनमें से जो कुछ रहा-सहा था, उसे उत्पादक शक्तियों के संगठन में मिला दिया है। सवाल यह है कि क्या

समाजवादी व्यवस्था की अपनी आर्थिक बुनियाद होती है ? ज़ाहिर है कि जब बहुत-कुछ स्वतंत्र उपकरणों के रूप में समाजवाद के अन्तगत उत्पादन-सम्बंध ग़ायब हो चुके हैं, तो समाजवादी व्यवस्था बिना आर्थिक बुनियाद के रह गई है।

संक्षेप में, यह कि ऐसी समाजवादी व्यवस्था जिसकी आर्थिक बुनियाद ग़ायब है। कुछ अजीब सी परिस्थिति है...

आर्थिक बुनियाद के बिना क्या कोई समाज व्यवस्था मुमकिन भी है ? ज़ाहिर है, कॉमरेड यारोशेंको को विश्वास है कि मुमकिन है। लेकिन मार्क्सवाद का विश्वास है कि कुदरत में ऐसी सामाजिक व्यवस्थाएँ नहीं होतीं।

अन्त में, यह सत्य नहीं है कि कम्युनिज़्म का मतलब उत्पादक शक्तियों का बुद्धिसंगत संगठन है, कि उत्पादक शक्तियों का बुद्धिसंगत संगठन कम्युनिस्ट व्यवस्था का आदि और अन्त है, कि बुद्धिसंगत ढंग से उत्पादक शक्तियों को संगठित करना भर ज़रूरी है कि हम किसी ख़ास कठिनाई के बिना कम्युनिज़्म तक पहुँच जायंगे। हमारे साहित्य में कम्युनिज़्म की एक दूसरी व्याख्या, एक दूसरा फ़ॉर्मूला है, लेनिन का फ़ॉर्मूला : "कम्युनिज़्म सोवियत शासन और उसके साथ समूचे देश का विद्युत-करण है।" ज़ाहिर है, लेनिन का फ़ॉर्मूला कॉमरेड यारोशेंको को पसन्द नहीं है और उसके बदले उन्होंने खुद अपना बनाया हुआ फ़ॉर्मूला रखा है : "कम्युनिज़्म, सामाजिक पैदावार में उत्पादक शक्तियों का सर्वोच्च वैज्ञानिक संगठन है।"

पहले तो यह पता नहीं कि उत्पादक शक्तियों का यह "उच्चतर वैज्ञानिक" या "बुद्धिसंगत" संगठन, जिसका कॉमरेड यारोशेंको ढिंढोरा पीटते हैं, क्या चीज़ है, उसका ठोस अर्थ क्या है। प्लीनम और बहस के वर्किंग पैनेलों के अपने भाषणों में और पोलीटिकल ब्यूरो के सदस्यों के नाम अपने ख़त में, कॉमरेड यारोशेंको ने दर्जनों बार इस

कपोल-कल्पना के सूत्र को दोहराया है, लेकिन कहीं यह समझाने के लिये एक शब्द भी नहीं लिखा है कि उत्पादक शक्तियों का यह "बुद्धिसंगत संगठन," जिसे कम्युनिस्ट व्यवस्था के सार-तत्व का आदि-अन्त कहा गया है, किस अर्थ में लिया जाय।

दूसरे, अगर दोनों फ़ॉर्मूलों में से एक चुनना हो तो लेनिन का फ़ॉर्मूला, जो एकमात्र सही फ़ॉर्मूला है, रद्द न किया जाना चाहिये, बल्कि कॉमरेड यारोशेंको का तथाकथित फ़ॉर्मूला, जो इतने खुले तौर से हवाई और ग़ैर-मार्क्सवादी है और बोग्दानोव के अस्त्रागार से, उसके "विश्वव्यापी संगठनात्मक विज्ञान" से, उधार लिया गया है, रद्द किया जाना चाहिये।

कॉमरेड यारोशेंको का विचार है कि उत्पादक शक्तियों के बुद्धिसंगत संगठन की गारंटी करने भर की देर है कि उपज की समृद्धि हाथ लग जायेगी और हम कम्युनिज़्म तक पहुँच जायंगे, "हर एक को उसके काम के हिसाब से" के फ़ॉर्मूले से "हर एक को उसकी ज़रूरतों के अनुसार" के फ़ॉर्मूले तक पहुँच जायँगे। यह भारी ग़लती है और समाजवाद के आर्थिक विकास के नियमों की समझ का पूर्ण अभाव ज़ाहिर करती है। समाजवाद से कम्युनिज़्म तक पहुँचने की शर्तों के बारे में कॉमरेड यारोशेंको की धारणा बेहद प्रारंभिक और निस्सार है। वह नहीं समझते कि अगर ऐसे आर्थिक उपकरण, जैसे पंचायती खेत या समूह की सम्पत्ति, बिकाऊ माल का चलन, वग़ैरह, क़ायम रहते हैं, तो न उपज की ऐसी बहुतायत हो सकती है जो समाज की तमाम ज़रूरतों को पूरा कर दे, और न "हर एक को उसकी ज़रूरतों के अनुसार" के फ़ॉर्मूले तक पहुँचना अमली रूप ले सकता है। कॉमरेड यारोशेंको यह नहीं समझते कि "हर एक को उसकी ज़रूरतों के अनुसार" के फ़ॉर्मूले तक पहुँचने से पहले हमें समाज के आर्थिक और सांस्कृतिक पुनर्शिक्षण की कई ऐसी मंज़िलों से गुज़रना होगा जिनके दौरान में, समाज की निगाह में, काम

उदर-पोषण का साधन मात्र न रहकर जीवन की परम आवश्यकता बन जायगा और सामाजिक सम्पत्ति समाज के अस्तित्व का पवित्र अनुल्लंघनीय आधार बन जायगी।

कम्युनिज़्म तक, सिर्फ़ ऐलानिया नहीं बल्कि सही माने में, पहुँचने का रास्ता बनाने के लिये कम से कम तीन मुख्य आरंभिक शर्तें पूरी करनी होंगी।

१. पहले तो उत्पादक शक्तियों के किसी हवाई "बुद्धिसंगत संगठन" की नहीं, बल्कि सभी सामाजिक पैदावार के लगातार प्रसार की गारंटी करना ज़रूरी है जिसमें पैदावार के साधनों के उत्पादन का प्रसार तुलनात्मक रूप से और भी तेज़ रफ़्तार से हो। पैदावार के साधनों के उत्पादन के प्रसार की अपेक्षतः और तेज़ रफ़्तार इसीलिये ज़रूरी नहीं है कि उसे अपने कारखानों के लिये और राष्ट्रीय अर्थतंत्र की सभी दूसरी शाखाओं के लिये साज़-सामान देना है, बल्कि इसलिये भी ज़रूरी है कि बिना उसके और विस्तृत पैमाने पर पुनरुत्पादन असंभव हो जाता है।

२. दूसरे, पंचायती खेतों के लाभ के लिये, और इसलिये तमाम समाज के लिये, क्रमशः आगे क़दम उठाते हुए, यह ज़रूरी है कि पंचायती-खेत की सम्पत्ति को सार्वजनिक सम्पत्ति की सतह तक ले आया जाय, और क्रमशः क़दम उठाते हुए ही, बिकाऊ माल के चलन के बदले उपज-विनिमय की ऐसी व्यवस्था क़ायम की जाय जिसमें केन्द्रीय सरकार या कोई दूसरा सामाजिक-आर्थिक केन्द्र समाज के हित में सामाजिक पैदावार की सारी उपज पर नियंत्रण रख सके।

कॉमरेड यारोशेंको ग़लती करते हैं जब वह यह दावा करते हैं कि समाजवाद के अन्तर्गत पैदावार के सम्बंधों और समाज की उत्पादक शक्तियों के बीच कोई असंगति नहीं है। यह ठीक है कि हमारे मौजूदा उत्पादन-सम्बंध ऐसे दौर में हैं जब वे उत्पादक शक्तियों की बढ़ती के

पूरी तरह अनुकूल हैं और उन्हें भारी डग भरते हुए आगे बढ़ने में मदद देते हैं। लेकिन यहीं पर तसल्ली की साँस लेकर रुक जाना और यह सोचना कि हमारी उत्पादक शक्तियों और उत्पादन-सम्बंधों में कोई असंगति नहीं है, ग़लत होगा। यह देखते हुए कि उत्पादन-सम्बंधों का विकास उत्पादक शक्तियों के विकास से पीछे रह जाया करता है, और रह जाया करेगा, असंगतियाँ जरूर हैं और रहेंगी। निर्देशक संस्थाओं की नीति सही होने पर ये असंगतियाँ विरोध का रूप धारण न करेंगी और समाज की उत्पादक शक्तियों और उत्पादन-सम्बंधों की टक्कर की संभावना न होगी। अगर हम ग़लत नीति पर चले, जैसी कि कॉमरेड यारोशेंको की सिफ़ारिश है, तो हालत दूसरी होगी। उस हालत में टक्कर लाज़मी होगी और उत्पादक शक्तियों के अगले विकास के लिये हमारे उत्पादन-सम्बंध भारी बाधक बन जायेंगे।

इसलिये, निर्देशक संस्थाओं का काम है कि अस्फुट असंगतियों का तुरत पता लगायें और उत्पादन-सम्बंधों को उत्पादक शक्तियों की बढ़ती के अनुरूप बनाकर समय से उनका समाधान करने का उपाय करें। इसका सम्बंध सबसे ज़्यादा ऐसे आर्थिक उपकरणों से है, जैसे समूह या पंचायती खेत की सम्पत्ति और बिकाऊ माल का चलन। इस समय निस्सन्देह सोशलिस्ट अर्थतंत्र के लिये इन उपकरणों का सफलता से उपयोग हो रहा है और इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि समाज को उनसे लाभ होता है। इससे भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि वे निकट भविष्य में भी लाभदायी होंगे। लेकिन साथ ही यह न देखना भी अक्षम्य अंधापन होगा कि ये उपकरण अभी से हमारी उत्पादक शक्तियों के समर्थ विकास में बाधा डालने लगे हैं, क्योंकि वे समूचे राष्ट्रीय अर्थतंत्र पर, ख़ास तौर से खेती पर, सरकारी आयोजन को पूरी तरह लागू करने में अड़चनें पैदा करते हैं। इसमें शक नहीं कि जैसे-जैसे वक़्त बीतेगा, ये उपकरण हमारे देश की उत्पादक शक्तियों की निरंतर बढ़ती में बाधक होंगे। इसलिये, करना यह है कि पंचायती-खेत की सम्पत्ति को

क्रमशः सार्वजनिक सम्पत्ति बनाकर, और बिकाऊ माल के चलन के बदले उपज-विनिमय क़ायम करके—यह भी क्रमशः ही—इन असंगतियों को दूर कर दिया जाय।

३. तीसरे, यह ज़रूरी है कि समाज की ऐसी सांस्कृतिक बढ़ती पक्की हो जाय जिससे कि समाज के सभी सदस्यों के लिये उनकी शारीरिक और मानसिक शक्तियों का चौमुखी विकास हो सके, जिससे कि समाज के सभी लोग इस हालत में हों कि उन्हें इतनी शिक्षा मिल जाय कि उससे वे सामाजिक विकास के सक्रिय कार्यकर्ता बन सकें और ऐसी हालत में हों कि अपना पेशा इच्छानुसार चुन सकें और मौजूदा श्रम-विभाजन की वजह से ज़िन्दगी भर एक ही पेशे से बँधे न रहें।

इसके लिये क्या दरकार है?

यह सोचना ग़लत होगा कि श्रम की मौजूदा स्थिति में ठोस तब्दीली के बिना ही, समाज के सदस्यों के सांस्कृतिक स्तर में ऐसी ठोस प्रगति हो जायगी। इसके लिये सबसे पहले ज़रूरी है कि काम का दिन घटाकर कम से कम छः घंटों का किया जाय और आगे चलकर पाँच घंटों का किया जाय। यह इसलिये ज़रूरी है कि समाज के सदस्यों को चौमुखी शिक्षा पाने के लिये ज़रूरी अवकाश मिल जाय। इसके बाद यह ज़रूरी है कि सार्वजनिक लाज़मी पोलीटेकनिकल (बहुकौशली) शिक्षा चालू की जाय। यह इसलिये ज़रूरी होती है कि समाज के लोग अपने पेशे आज़ादी से चुन सकें और सारी ज़िन्दगी किसी एक ही पेशे से बँधे न रहें। इसी तरह यह भी ज़रूरी है कि मकानों की व्यवस्था में बुनियादी सुधार हो और मज़दूरों और कर्मचारियों की असली पगार ज़्यादा नहीं तो दुगनी कर दी जाय, उनकी पगार और वेतन में सीधे बढ़ती करके और इससे भी अधिक ख़ास तौर से, खर्च में आनेवाले माल की कीमतें बाक़ायदा और भी घटाकर।

कम्युनिज़्म तक पहुँचने का रास्ता बनाने के लिये इन बुनियादी शर्तों को पूरा करना ज़रूरी है।

जब ये **सभी** प्राथमिक शर्तें पूरी तरह से पूरी हो जायंगी, तभी यह उम्मीद की जा सकती है कि समाज के सदस्यों की नजर में श्रम एक बवालेजान के बदले "ज़िन्दगी की पहली माँग" (मार्क्स) बन जायगा, "श्रम एक बोझा बनने के बदले आनन्द की चीज बन जायगा" (एंगेल्स), और समाज के सभी सदस्य सामाजिक सम्पत्ति को समाज के अस्तित्व का पवित्र और अनुल्लंघनीय आधार समझेंगे।

जब ये **सभी** प्राथमिक शर्तें पूरी तरह से पूरी हो जायंगी, तभी यह मुमकिन होगा कि हम "हर एक से उसकी योग्यता के अनुसार और हर एक को उसके काम के अनुसार"—इस समाजवादी सूत्र से आगे बढ़कर "हर एक से उसकी योग्यता के अनुसार और हर एक को उसकी ज़रूरत के अनुसार"—इस कम्युनिस्ट सूत्र तक पहुँचेंगे।

अर्थतंत्र के एक रूप से, समाजवाद के अर्थतंत्र से, अर्थतंत्र के दूसरे, उच्चतर रूप तक, कम्युनिज़्म के अर्थतंत्र तक, यह बुनियादी संक्रमण होगा।

ज़ाहिर है कि सोशलिज्म से कम्युनिज्म तक बढ़ना इतनी सीधी बात नहीं है जितनी कि कॉमरेड यारोशेंको कल्पना करते हैं।

इस पेचीदा और बहुरूपी क्रम को, जिसे गहरी आर्थिक तब्दीलियों की ज़रूरत होती है, "उत्पादक शक्तियों का बुद्धिसंगत संगठन" बना देना, जैसा कि कॉमरेड यारोशेंको ने बना दिया है, मार्क्सवाद की जगह बोगदानोववाद को पेश करना है।

२. कॉमरेड यारोशेंको की दूसरी ग़लतियाँ

१. कॉमरेड यारोशेंको ने अपनी ग़लत राय से अर्थशास्त्र के लक्षण और क्षेत्र के बारे में ग़लत नतीजे निकाले हैं।

कॉमरेड यारोशेंको ने इस बिना पर कि हर समाज-व्यवस्था के अपने विशेष आर्थिक नियम होते हैं, सभी समाज-व्यवस्थाओं के लिये एक ही अर्थशास्त्र की ज़रूरत को अस्वीकार किया है। लेकिन यहाँ वह क़तई ग़लती पर हैं, और उनका ऐसे मार्क्सवादियों से भेद है, जैसे एंगेल्स और लेनिन से।

एंगेल्स का कहना है कि अर्थशास्त्र "उन परिस्थितियों और रूपों का विज्ञान" है "जिनके अन्तर्गत **विभिन्न मानव-समाजों** ने चीज़ों को पैदा किया है, उनका विनिमय किया है और इस आधार पर उनका वितरण किया है।" (**ड्यूरिंग-मत-खंडन**) इसलिये अर्थशास्त्र किसी एक समाज-व्यवस्था के नहीं, बल्कि विभिन्न समाज-व्यवस्थाओं के विकास के नियमों की छानबीन करता है।

जैसा कि हमें मालूम है, लेनिन इससे पूरी तरह सहमत थे। बुखारिन के **संक्रमण काल का अर्थशास्त्र** पर अपनी आलोचनात्मक टिप्पणियों में उन्होंने कहा था कि बुखारिन ने अर्थशास्त्र के क्षेत्र को बिकाऊ माल की पैदावार तक, और सबसे अधिक पूँजीवादी पैदावार तक सीमित करके ग़लती की है। लेनिन का कहना था कि ऐसा करके बुखारिन "एंगेल्स से एक क़दम पीछे" हटा है।

पाठ्य-पुस्तक के मसौदे में अर्थशास्त्र की जो व्याख्या दी हुई है, वह इसके पूरी तरह अनुरूप है। उसमें कहा गया है कि अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो "मानव-समाज के विकास की **विभिन्न मंज़िलों में**, भौतिक मूल्यों के सामाजिक उत्पादन और वितरण के नियमों का" अध्ययन करता है।

यह बात समझ में आती है। अपने आर्थिक विकास में विभिन्न समाज-व्यवस्थाएँ न सिर्फ़ अपने विशेष आर्थिक नियमों से संचालित होती हैं, बल्कि उन आर्थिक नियमों से भी संचालित होती हैं जो सभी व्यवस्थाओं में समान रूप से होते हैं, जैसे, मसलन, यह नियम कि

उत्पादक शक्तियाँ और उत्पादन-सम्बंध एक ही सुसम्बद्ध सामाजिक पैदावार में जुड़े होते हैं, और वह नियम जिससे सभी समाज-व्यवस्थाओं के विकास-क्रम में उत्पादन-सम्बंधों और उत्पादक शक्तियों के सम्बंध अनुशासित होते हैं। इसलिये समाज-व्यवस्थाएँ एक दूसरे से अपने विशेष नियमों के कारण सिर्फ़ भिन्न ही नहीं हैं, बल्कि सभी व्यवस्थाओं के लिये सामान्य आर्थिक नियमों से, एक दूसरे से जुड़ी हुई भी हैं।

एंगेल्स ने बिल्कुल ठीक ही कहा था :

"पूँजीवादी अर्थतंत्र की यह आलोचना पूरी तरह करने के लिये, पैदावार, विनिमय और वितरण के पूँजीवादी रूप की जानकारी काफ़ी नहीं थी। उसके पहले के रूपों या कम विकसित देशों में उसके साथ अब भी मौजूद रहनेवाले रूपों की जाँच-पड़ताल और तुलना, कम से कम उनकी मुख्य विशेषताओं की जाँच-पड़ताल और तुलना भी जरूरी थी।" (**ड्यूरिंग-मत-खंडन**)

यह स्पष्ट है कि यहां, इस सवाल पर भी कॉमरेड यारोशेंको बुखारिन के सुर में सुर मिलाये हुए हैं।

इसके आगे कॉमरेड यारोशेंको घोषित करते हैं कि उनके "समाजवाद के अर्थशास्त्र" में "मूल्य, बिकाऊ माल, मुद्रा, उधार, आदि, **अर्थशास्त्र की कोटियों की जगह**, सामाजिक पैदावार में उत्पादक शक्तियों के बुद्धिसंगत संगठन पर स्वस्थ बहस होगी," फलतः **इस** अर्थशास्त्र की खोजबीन का विषय समाजवादी उत्पादन-सम्बंध **न** होंगे, **बल्कि** "उत्पादक शक्तियों के संगठन के वैज्ञानिक सिद्धान्त, आर्थिक आयोजन के सिद्धान्त, आदि की व्याख्या और विकास होंगे," और यह कि समाजवाद के अन्तर्गत उत्पादन-सम्बंध अपना स्वतंत्र अस्तित्व खो देते हैं और उसके ही एक अंग की तरह उत्पादक शक्तियों द्वारा समेट लिये जाते हैं।

कहना पड़ेगा कि इससे पहले किसी भी फिसड्डी "मार्क्सवादी" ने ऐसा पाखंड न किया था। ज़रा सोचिये तो, समाजवाद का अर्थशास्त्र होगा लेकिन उसमें आर्थिक समस्याएँ, पैदावार की समस्याएँ न होंगी! क्या सृष्टि में कहीं भी ऐसा अर्थशास्त्र है? समाजवाद के अर्थशास्त्र में आर्थिक समस्याओं की जगह उत्पादक शक्तियों के संगठन की समस्याओं को देने का नतीजा क्या होगा? नतीजा होगा, समाजवाद के अर्थशास्त्र को ख़त्म कर देना। और कॉमरेड यारोशेंको ने यही किया भी है—उन्होंने समाजवाद का अर्थशास्त्र ख़त्म कर दिया है। इस बात में उनकी स्थिति पूरी तरह बुख़ारिन से मिलती है। बुख़ारिन ने **कहा था** कि पूँजीवाद के ख़ात्मे के बाद अर्थशास्त्र भी ख़त्म हो जायगा। कॉमरेड यारोशेंको ने यह कहा नहीं है, लेकिन उन्होंने यह **कर डाला है**; उन्होंने समाजवाद के अर्थशास्त्र को ही ख़त्म कर डाला है। यह सच है कि वह बुख़ारिन से पूरी तरह सहमत न होने का बहाना करते हैं; लेकिन यह सिर्फ़ एक स्वांग है, वह भी घटिया स्वांग। हक़ीक़त में वह वही कर रहे हैं जिसका बुख़ारिन ने प्रचार किया था और लेनिन ने जिसके ख़िलाफ़ शस्त्र उठाये थे! कॉमरेड यारोशेंको बुख़ारिन के पद-चिन्हों पर चल रहे हैं।

और भी, कॉमरेड यारोशेंको ने समाजवाद के अर्थशास्त्र की समस्याओं को उत्पादक शक्तियों के बुद्धिसंगत संगठन की समस्याएँ, आर्थिक आयोजन की समस्याएँ, आदि, बना दिया है। लेकिन उन्होंने भारी ग़लती की है। उत्पादक शक्तियों का बुद्धिसंगत संगठन, आर्थिक आयोजन आदि, अर्थशास्त्र की समस्याएँ नहीं हैं, बल्कि निर्देशक संस्थाओं की आर्थिक नीति की समस्याएँ हैं। ये दो अलग क्षेत्र हैं जिन्हें उलझाना न चाहिये। कॉमरेड यारोशेंको ने इन दो अलग चीज़ों को उलझा दिया है और भयंकर घपला कर दिया है। अर्थशास्त्र मनुष्यों के उत्पादन-सम्बंधों के विकास के नियमों की खोजबीन करता है। आर्थिक नीति इससे अमली नतीजे निकालती है, उन्हें ठोस शकल देती है और अपना रोज़मर्रा का काम उनके आधार पर चलाती है। अर्थशास्त्र पर

आर्थिक नीति की समस्याएँ लादने का मतलब है, विज्ञान के रूप में उसकी जान ले लेना।

मनुष्य के उत्पादन-सम्बंध, आर्थिक-सम्बंध, अर्थशास्त्र का क्षेत्र है। उसके अन्तर्गत हैं: (क) पैदावार के साधनों की मिल्कियत के रूप; (ख) पैदावार में विभिन्न सामाजिक समूहों की स्थिति और इन रूपों से उत्पन्न उनके परस्पर सम्बंध या जिनके लिये मार्क्स ने कहा था: "उनकी कार्यवाहियों का परस्पर विनिमय"; (ग) उपज के वितरण के रूप जो पूरी तरह उनसे निश्चित होते हैं। इन सबसे मिलकर अर्थशास्त्र का क्षेत्र बनता है।

इस व्याख्या में "विनिमय" शब्द नहीं है जो एंगेल्स की व्याख्या में आया है। उसे छोड़ दिया गया है क्योंकि बहुत से लोग "विनिमय" का मतलब बिकाऊ माल का विनिमय लगाते हैं जो सभी समाज-व्यवस्थाओं की नहीं, बल्कि कुछ की ही विशेषता है और इससे कभी-कभी ग़लतफ़हमी पैदा हो जाती है, हालांकि एंगेल्स के "विनिमय" का मतलब केवल बिकाऊ माल का विनिमय नहीं है। फिर भी, जैसा कि स्पष्ट होगा, विनिमय से एंगेल्स का जो कुछ आशय था, उसे ऊपर की व्याख्या में उसी के अंश के रूप में समो लिया गया है। इसलिये अर्थशास्त्र के क्षेत्र की यह व्याख्या विषय-वस्तु में एंगेल्स की व्याख्या से पूरी तरह मेल खाती है।

२. जब किसी ख़ास समाज-व्यवस्था के बुनियादी आर्थिक नियम की बात की जाती है, तब आम तौर से यही समझा जाता है कि उसके कई बुनियादी आर्थिक नियम नहीं हो सकते, कि उसका कोई एक ही बुनियादी आर्थिक नियम हो सकता है, जो ठीक इसी कारण से **बुनियादी** नियम होता है। नहीं तो, हर समाज-व्यवस्था के लिये कई बुनियादी आर्थिक नियम होते, जो बुनियादी नियम की धारणा के ही खिलाफ़ होता। लेकिन कॉमरेड यारोशेंको इससे सहमत नहीं हैं। उनकी

समझ से समाजवाद के एक नहीं, अनेक बुनियादी नियम होना मुमकिन है। इस बात पर यक़ीन नहीं होता, लेकिन यह है सच। प्लीनरी बहस में उन्होंने कहा था :

"सामाजिक उत्पादन और पुनरुत्पादन की भौतिक निधि की विशदता और परस्पर सम्बंध, सामाजिक पैदावार में लगी हुई प्राप्य श्रम-शक्ति और उसकी संभाव्य बढ़ती से निश्चित होते हैं। सोशलिस्ट समाज का यह बुनियादी आर्थिक नियम है और वह सोशलिस्ट सामाजिक उत्पादन और पुनरुत्पादन के रूप को निश्चित करता है।"

समाजवाद का यह एक बुनियादी नियम हुआ।

उसी भाषण में कॉमरेड यारोशेंको ने ऐलान किया था :

"सोशलिस्ट समाज में डिपार्टमेंट १ और २ के परस्पर सम्बंध इस बात से निश्चित होते हैं कि पैदावार के पास उत्पादन के साधन इतनी तादाद में होने चाहिये कि आबादी के सभी तन्दुरुस्त लोग सामाजिक उत्पादन में लगाये जा सकें। समाजवाद का यह बुनियादी आर्थिक नियम है और साथ ही हमारे विधान की एक माँग भी है, जो सोवियत नागरिकों के काम पाने के अधिकार से उत्पन्न होती है।"

कहना चाहिये कि समाजवाद का यह दूसरा बुनियादी आर्थिक नियम हुआ।

अन्त में पोलीटिकल ब्यूरो के सदस्यों के नाम अपने पत्र में कॉमरेड यारोशेंको घोषित करते हैं :

"इसलिये, मुझे लगता है, कि समाजवाद के बुनियादी आर्थिक नियम की मूल विशेषताएँ और माँगें, मोटे तौर से, यों रखी जा सकती हैं : समाज की भौतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों के उत्पादन का निरन्तर प्रसार और उनका पूर्णता की ओर पहुँचना।"

यह हुआ समाजवाद का तीसरा बुनियादी आर्थिक नियम।

ये तीनों नियम समाजवाद के बुनियादी आर्थिक नियम हैं या उनमें से केवल एक ही है, और यदि एक है तो कौन सा—इन सब सवालों का जवाब कॉमरेड यारोशेंको ने पोलीटिकल ब्यूरो के सदस्यों के नाम अपने सबसे बाद के ख़त में नहीं दिया है। पोलीटिकल ब्यूरो के सदस्यों के नाम अपने ख़त में समाजवाद के बुनियादी आर्थिक नियम को पेश करते हुए, यह अनुमान करना होगा, वह "भूल गये" कि तीन महीने पहले प्लीनरी बहस में भाषण देते हुए समाजवाद के दो अन्य बुनियादी आर्थिक नियम वह पहले ही पेश कर चुके थे। ज़ाहिर है, उन्हें भरोसा था कि इस दुतर्फ़ी चाल को—उसे कम से कम यही कहा जा सकता है—कोई भाँपेगा नहीं। लेकिन, जैसा कि हम देखते हैं, यह उनकी भूल थी।

मान लीजिये कि कॉमरेड यारोशेंको द्वारा प्रतिपादित समाजवाद के पहले दो बुनियादी आर्थिक नियम नहीं रहे और अब से वह उस तीसरे को समाजवाद का बुनियादी आर्थिक नियम मानते हैं, जिसे उन्होंने पोलीटिकल ब्यूरो के सदस्यों के नाम अपने ख़त में प्रतिपादित किया है। इस ख़त पर नज़र डालें।

इस ख़त में कॉमरेड यारोशेंको कहते हैं कि कॉमरेड स्तालिन ने अपने "कुछ विचार" में समाजवाद के बुनियादी आर्थिक नियम की जो परिभाषा दी है, उससे वह सहमत नहीं हैं। वह कहते हैं :

> "इस परिभाषा में मुख्य बात यह है 'तमाम समाज की आवश्यकताओं...की अधिक से अधिक पूर्ति हासिल करना।' यहाँ पर पैदावार, इस मुख्य उद्देश्य को हासिल करने—आवश्यकताओं की पूर्ति—के साधन के रूप में पेश की गयी है। ऐसी व्याख्या से यह अनुमान करने के लिये आधार मिलता है कि आपने समाजवाद का जो बुनियादी आर्थिक नियम प्रतिपादित किया है, वह पैदावार की प्रमुखता पर आधारित नहीं है, बल्कि खाने-ख़रचने की प्रमुखता पर निर्भर है।"

ज़ाहिर है कि कॉमरेड यारोशेंको समस्या के तत्व को समझने में पूरी तरह असफल रहे हैं। वह यह नहीं देखते कि पैदावार की या खाने-ख़रचने की प्रमुखता से उसका कोई सम्बंध नहीं है। जब हम किसी एक सामाजिक प्रक्रिया पर दूसरी प्रक्रिया की प्रमुखता की बात करते हैं, तब आम तौर से यह मानकर चलते हैं कि दोनों प्रक्रियाएँ बहुत-कुछ समान लक्षणवाली हैं। खाने-ख़रचने के साधनों के उत्पादन के मुक़ाबले में पैदावार के साधनों के उत्पादन की प्रमुखता का ज़िक्र किया जा सकता है और करना चाहिये, क्योंकि इन दोनों में ही उत्पादन शामिल है और इसलिये ये दोनों बहुत-कुछ समान हैं। लेकिन पैदावार के मुक़ाबले में खाने-ख़रचने की या खाने-ख़रचने के मुक़ाबले में पैदावार की प्रमुख़ता की बात हम नहीं कर सकते, और करना ग़लत होगा, क्योंकि पैदावार और खाना-ख़रचना—ये दो बिलकुल भिन्न क्षेत्र हैं। ठीक है कि वे एक दूसरे से सम्बंधित हैं, लेकिन फिर भी वे भिन्न क्षेत्र हैं। कॉमरेड यारोशेंको, स्पष्ट ही, यह नहीं समझ पाये कि यहाँ पर बात खाने-ख़रचने या पैदावार की प्रमुखता की नहीं है, बल्कि इसकी है कि—मसलन समाजवाद में—समाज, कौन सा **लक्ष्य** सामाजिक पैदावार के सामने रखता है, वह सामाजिक पैदावार को किस **उद्देश्य** के मातहत रखता है। इसलिये जब कॉमरेड यारोशेंको कहते हैं कि "सोशलिस्ट समाज के जीवन का आधार, जैसा कि और सभी समाजों का होता है, पैदावार है," तो यह बात बिलकुल असंगत है। कॉमरेड यारोशेंको भूल जाते हैं कि मनुष्य पैदावार के लिये पैदावार नहीं करता, बल्कि अपनी ज़रूरतें पूरी करने के लिये पैदावार करता है। वह भूल जाते हैं कि समाज की ज़रूरतों की पूर्ति से विलग होकर उत्पादन मुरझा जाता है और ख़त्म हो जाता है।

साधारण तौर पर क्या हम पूँजीवादी या समाजवादी उत्पादन के लक्ष्यों की, पूँजीवादी या समाजवादी उत्पादन जिन उद्देश्यों के मातहत रखा जाता है, उनकी—बात कर सकते हैं? मेरा विचार है कि हम कर सकते हैं और करना चाहिये।

मार्क्स का कहना है :

"पूँजीवादी उत्पादन का सीधा लक्ष्य माल की पैदावार नहीं, बल्कि अतिरिक्त मूल्य की, या अपने विकसित रूप में मुनाफ़े की, पैदावार है। उसका सीधा लक्ष्य उपज नहीं, अतिरिक्त उपज है। इस लिहाज़ से श्रम भी वहीं तक उत्पादनशील है, जहाँ तक वह पूँजी के लिये मुनाफ़ा या अतिरिक्त उपज पैदा करता है। जहाँ तक मज़दूर उसे नहीं पैदा करता, वहां तक उसकी मेहनत भी उत्पादन-रहित होती है। नतीजा यह है कि पैदावार में लगाये हुए कुल-जमा उत्पादनशील श्रम से पूँजी को वहीं तक दिलचस्पी है, जिस हद तक उसके ज़रिये—या उसके सिलसिले में—कुल-जमा अतिरिक्त मूल्य में बढ़ती होती है। जिसे आवश्यक श्रम-काल कहा जाता है, वह भी उसी हद तक आवश्यक होता है। जिस हद तक वह यह फल नहीं देता, उस हद तक वह फालतू होता है और उसे बन्द करना पड़ता है।

"पूँजीवादी पैदावार का निरन्तर यह लक्ष्य होता है कि वह कम से कम पूँजी लगाकर ज़्यादा से ज़्यादा अतिरिक्त मूल्य या अतिरिक्त उपज पैदा करे। चूँकि मज़दूर से हद से बाहर काम कराने से यह फल नहीं मिलता, इसलिये पूँजी का यह रुझान होता है कि कम से कम ख़र्च से—श्रम-शक्ति और ख़र्च ... में कंजूसी करके—किसी उपज को पैदा करने की कोशिश की जाय।

"इस धारणा में ख़ुद मज़दूर उसी रूप में सामने आते हैं, जो रूप उनका पूँजीवादी पैदावार में दरअसल होता है—सिर्फ़ पैदावार के साधन के रूप में। वे अपने में न कोई उद्देश्य हैं, न पैदावार का लक्ष्य हैं।" (**अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त**, खंड २, भाग २)

मार्क्स के ये शब्द महत्वपूर्ण हैं, केवल इसलिये नहीं कि वे ठीक ठीक और संक्षेप में पूँजीवादी उत्पादन के लक्ष्य की व्याख्या करते हैं,

बल्कि इसलिये भी कि वे उस बुनियादी लक्ष्य, उस मुख्य उद्देश्य, को भी बतला देते हैं, जो समाजवादी उत्पादन के सामने रखना चाहिये।

इसलिये पूँजीवादी उत्पादन का उद्देश्य मुनाफ़ा कमाना है। जहाँ तक खाने-ख़रचने की बात है, पूँजीवाद को उसकी वहीं तक ज़रूरत है जहाँ तक उससे मुनाफ़ा पक्का होता है। इससे बाहर पूँजीवाद के लिये खाने-ख़रचने के कोई माने नहीं हैं। इन्सान और उसकी ज़रूरतें उसकी आँखों से ओझल हो जाती हैं।

समाजवादी उत्पादन का लक्ष्य क्या है? वह मुख्य उद्देश्य क्या है जिसके मातहत, समाजवाद में सामाजिक पैदावार को रखना चाहिये?

समाजवादी पैदावार का लक्ष्य मुनाफ़ा नहीं है, बल्कि इन्सान और उसकी ज़रूरतें हैं, यानी उसकी भौतिक और सांस्कृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति है। जैसा कि कॉमरेड स्तालिन के "कुछ विचार" में कहा गया है, समाजवादी उत्पादन का लक्ष्य "पूरे समाज की निरन्तर बढ़ती हुई भौतिक और सांस्कृतिक आवश्यकताओं की अधिकतम पूर्ति हासिल करना है।"

कॉमरेड यारोशेंको का विचार है कि उनके सामने जो मसला दरपेश है, वह पैदावार के मुक़ाबले में खाने-ख़रचने की "प्रमुखता" का है। यह एक भ्रान्ति ही है। वास्तव में बात खाने-ख़रचने की प्रमुखता की नहीं है, बल्कि समाजवादी पैदावार को उसके प्रमुख लक्ष्य के **मातहत रखने** की है। यह लक्ष्य है—समाज की निरन्तर बढ़ती हुई भौतिक और सांस्कृतिक आवश्यकताओं की अधिकतम पूर्ति हासिल करना।

इसलिये, पूरे समाज की निरन्तर बढ़ती हुई भौतिक और सांस्कृतिक आवश्यकताओं की अधिकतम पूर्ति समाजवादी पैदावार का **लक्ष्य** है; इस लक्ष्य को हासिल करने का **साधन** है—उच्चतर कौशल के आधार पर समाजवादी पैदावार का निरन्तर प्रसार और उसको पूर्णता की ओर ले जाना।

समाजवाद का बुनियादी आर्थिक नियम इस प्रकार का है।

कॉमरेड यारोशेंको ने जिसे खाने-खरचने के मुक़ाबले में पैदावार की "प्रमुखता" कहा है, उसे क़ायम रखने की इच्छा से उन्होंने दावा किया है कि "समाजवाद का बुनियादी आर्थिक नियम" इसमें है कि "समाज की भौतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों के उत्पादन का निरन्तर प्रसार हो और उसे पूर्णता की ओर ले जाया जाय।" यह क़तई ग़लत है। कॉमरेड यारोशेंको ने कॉमरेड स्तालिन के "कुछ विचार" में दिये हुए फ़ॉर्मूले को भद्दे ढंग से तोड़ा-मरोड़ा है। उत्पादन उनके लिये साधन के बदले लक्ष्य बन गया है और समाज की निरन्तर बढ़ती हुई भौतिक और सांस्कृतिक आवश्यकताओं की अधिकतम पूर्ति निकाल फेंकी गयी है। यहाँ उत्पादन का प्रसार उत्पादन के प्रसार के लिये है, उत्पादन अपने में खुद एक लक्ष्य बन गया है। कॉमरेड यारोशेंको की नज़र से इन्सान और उसकी ज़रूरतें ओझल हो गयी हैं।

इसलिये, इसमें कोई ताज्जुब की बात नहीं है कि समाजवादी उत्पादन के लक्ष्य के रूप में इन्सान के ग़ायब होने पर कॉमरेड यारोशेंको की "धारणा" से मार्क्सवाद का नामनिशान भी ग़ायब हो गया है।

और इसलिये कॉमरेड यारोशेंको जिस ठिकाने पर पहुँचे हैं, वह खाने-खरचने के मुक़ाबले में पैदावार की "प्रमुखता" नहीं है, बल्कि मार्क्सवादी विचारधारा के मुक़ाबले में पूँजीवादी विचारधारा की प्रमुखता जैसी चीज़ है।

३. मार्क्स का पुनरुत्पादन का सिद्धान्त अपने में खुद एक सवाल है। कॉमरेड यारोशेंको का दावा है कि पुनरुत्पादन का मार्क्सवादी सिद्धान्त पूँजीवादी पुनरुत्पादन का ही सिद्धान्त है, कि उसमें ऐसी

कोई चीज़ नहीं है जो दूसरी समाज-व्यवस्थाओं के लिये सार्थक हो, ख़ास तौर से सोशलिस्ट समाज-व्यवस्था के लिये। उनका कहना है :

"मार्क्स ने पूँजीवादी अर्थतंत्र के लिये जो पुनरुत्पादन की योजना बनायी थी, उसे सोशलिस्ट सामाजिक पैदावार पर लागू करना मार्क्स के सिद्धान्त को कठमुल्लेपन से समझने का फल है और उनके सिद्धान्त के सारतत्व के ख़िलाफ़ है।" (प्लीनरी बहस में कॉमरेड यारोशेंको का भाषण)

उन्होंने और आगे दावा किया है : "मार्क्स की पुनरुत्पादन-योजना सोशलिस्ट समाज के आर्थिक नियमों के अनुकूल नहीं है और सोशलिस्ट पुनरुत्पादन की जाँच-पड़ताल का आधार नहीं बन सकती।" (उपरोक्त)

मार्क्स के सीधे-सादे पुनरुत्पादन के सिद्धान्त के बारे में, जो पैदावार के साधनों के उत्पादन (डिपार्टमेंट १) और खाने-ख़रचने के साधनों के उत्पादन (डिपार्टमेंट २) के बीच एक निश्चित सम्बंध क़ायम करता है, कॉमरेड यारोशेंको कहते हैं :

"सोशलिस्ट समाज में, डिपार्टमेंट १ और २ के परस्पर सम्बंध मार्क्स के फ़ॉर्मूले, डिपार्टमेंट १ की बदलती हुई पूँजी (वी) + अतिरिक्त मूल्य (एम) और डिपार्टमेंट २ की स्थायी पूँजी (सी) से निश्चित नहीं होता। समाजवादी परिस्थितियों में डिपार्टमेंट १ और २ के बीच विकास का ऐसा कोई सम्बंध न होना चाहिये।" (उपरोक्त)

उनका दावा है : "डिपार्टमेंट १ और २ के परस्पर सम्बंध का जो सिद्धान्त मार्क्स ने निकाला था, वह हमारी समाजवादी परिस्थितियों में लागू नहीं होता क्योंकि मार्क्स का सिद्धान्त पूँजीवादी अर्थतंत्र और उसके नियमों पर आधारित है।" (पोलीटिकल ब्यूरो के सदस्यों के नाम कॉमरेड यारोशेंको का ख़त)

इस तरह कॉमरेड यारोशेंको ने मार्क्स के पुनरुत्पादन के सिद्धान्त का भुर्ता बना डाला है।

इसमें शक नहीं कि मार्क्स का पुनरुत्पादन का सिद्धान्त पैदावार की पूँजीवादी पद्धति के नियमों की जाँच-पड़ताल का फल था। इसलिये वह उसके विशेष लक्षणों को प्रतिबिंबित करता है और इसलिये यह स्वाभाविक ही है कि वह पूँजीवादी बिकाऊ माल के मूल्य-सम्बंधों के वेश में है। इसके अलावा दूसरी चीज़ हो भी न सकती थी। लेकिन जो व्यक्ति मार्क्स के पुनरुत्पादन के सिद्धान्त में उसका रूप ही देखता है, और उसके मूल तत्वों को, उसके सारतत्व को नहीं देखता, जो सिर्फ़ पूँजीवादी समाज-व्यवस्था के लिये ही सार्थक नहीं है, उसे इस सिद्धान्त की क़तई कोई जानकारी नहीं है। अगर कॉमरेड यारोशेंको में इस विषय की ज़रा भी समझ होती, तो वह इस स्पष्ट सत्य का अनुभव करते कि मार्क्स की पुनरुत्पादन योजना का आदि और अन्त पैदावार की पूँजीवादी पद्धति के विशेष लक्षण को प्रतिबिंबित करने से ही नहीं हो जाता। उसमें पुनरुत्पादन के विषय पर अनेक बुनियादी स्थापनाएँ हैं जो सभी समाज-व्यवस्थाओं के लिये सार्थक हैं, ख़ास तौर पर और विशेष रूप से सोशलिस्ट समाज-व्यवस्था के लिये। पुनरुत्पादन के मार्क्सीय सिद्धान्त की ऐसी मूल स्थापनाएँ—जैसे, सामाजिक पैदावार का, उत्पादन के साधनों की पैदावार में और खाने-ख़रचने के साधनों की पैदावार में विभाजन; विस्तृत पैमाने पर पुनरुत्पादन में पैदावार के साधनों के उत्पादन में अपेक्षतः ज़्यादा बढ़ती; डिपार्टमेंट १ और २ का परस्पर सम्बंध; निधि-संग्रह के लिये अतिरिक्त उपज का एकमात्र स्रोत होना; सामाजिक कोषों का निर्माण और नामकरण; विस्तृत पैमाने पर पुनरुत्पादन के लिये निधि-संग्रह का एकमात्र स्रोत होना—पुनरुत्पादन के मार्क्सीय सिद्धान्त की ये सभी मूल स्थापनाएँ, ऐसी स्थापनाएँ भी हैं जो सिर्फ़ पूँजीवादी व्यवस्था के लिये ही सार्थक नहीं हैं। इन्हें कोई भी सोशलिस्ट समाज अपने राष्ट्रीय अर्थतंत्र की योजना बनाने में

नज़रअंदाज़ नहीं कर सकता। यह एक ध्यान देने की बात है कि खुद कॉमरेड यारोशेंको, जो मार्क्स की "पुनरुत्पादन-योजनाओं" पर ऐसे घमंड से नाक-भौं सिकोड़ते हैं, सोशलिस्ट पुनरुत्पादन की समस्याओं के विवेचन में समय-समय पर इन्हीं "योजनाओं" की मदद लेने पर मजबूर होते हैं।

और लेनिन और मार्क्स का रुख़ इस बात की तरफ़ क्या था?

बुखारिन की **संक्रमणकाल का अर्थशास्त्र** नामक पुस्तक पर लेनिन की आलोचनात्मक टिप्पणियों से सभी परिचित हैं। जैसा कि हमें मालूम है, इन टिप्पणियों में लेनिन ने डिपार्टमेंट १ और २ के परस्पर सम्बंधों पर मार्क्स के फ़ॉर्मूले को, जिसके खिलाफ़ कॉमरेड यारोशेंको ने शस्त्र उठाये हैं, समाजवाद और "शुद्ध कम्युनिज़्म" दोनों के लिये, यानी कम्युनिज़्म के दूसरे दौर के लिये, सार्थक माना था।

जहाँ तक मार्क्स का सम्बंध है, जैसा कि हमें मालूम है, उनकी इच्छा पूँजीवादी पैदावार के नियमों की जाँच-पड़ताल से हटने की नहीं थी और उन्होंने **पूँजी** में समाजवाद पर अपनी पुनरुत्पादन की योजनाएँ लागू करने का विवेचन नहीं किया था। फिर भी **पूँजी** के खंड २, अध्याय २०, में "डिपार्टमेंट १ की स्थायी पूँजी" वाले भाग में जहाँ उन्होंने डिपार्टमेंट १ में इसी डिपार्टमेंट की उपज के विनिमय की जाँच की है, वहाँ मार्क्स ने, मानो चलते-चलते, यह भी कह दिया है कि समाजवाद के अन्तर्गत इस डिपार्टमेंट में उपज का विनिमय उसी तरह नियमपूर्वक चलता रहेगा जैसे कि पूँजीवादी पैदावार की प्रणाली के अन्तर्गत। वह कहते हैं:

"अगर पैदावार, पूँजीवादी के बदले समाजवादी बना दी जाय, तो यह ज़ाहिर है कि डिपार्टमेंट १ की यह उपज उत्पादन के साधनों के रूप में इस डिपार्टमेंट की विभिन्न उत्पादन-शाखों में वैसे

ही नियमपूर्वक पुनरुत्पादन के लिये फिर वितरित कर दी जायगी। एक हिस्सा सीधे-सीधे उस उत्पादन-क्षेत्र में रह जायगा जिसने उसे पैदा किया था, दूसरा हिस्सा उसी डिपार्टमेंट की दूसरी उत्पादन-शाखों में चला जायगा। इस तरह इस डिपार्टमेंट की विभिन्न उत्पादन-शाखों में लगातार आपसी विनिमय क़ायम रखा जायगा।"

(मार्क्स, **पूँजी**, खंड २, आठवां संस्करण, पृ. ३०७)

इसलिये मार्क्स ने यह हर्गिज़ न सोचा था कि उनका पुनरुत्पादन का सिद्धांत सिर्फ़ पैदावार की पूँजीवादी पद्धति के लिये सार्थक था, हालाँकि वह पैदावार की पूँजीवादी पद्धति के नियमों की जाँच-पड़ताल कर रहे थे। इसके विपरीत हम देखते हैं कि उनका मत था कि उनका पुनरुत्पादन का सिद्धान्त पैदावार की समाजवादी पद्धति के लिये भी सार्थक हो सकता है।

यहां इस बात पर ध्यान देना चाहिये कि **गोथा कार्यक्रम की आलोचना** में समाजवाद और कम्युनिज़्म तक पहुँचने के संक्रमण-काल के अर्थशास्त्र की छानबीन करते हुए मार्क्स अपने पुनरुत्पादन के सिद्धान्त की मूल स्थापनाओं को आधार मान कर चले हैं। ज़ाहिर है कि वह उन्हें कम्युनिस्ट व्यवस्था के लिये भी लाज़मी मानते थे।

इस बात पर भी ध्यान देना चाहिये कि जहां एंगेल्स ने अपने **ड्यूरिंग-मत-खंडन** में ड्यूरिंग की "सोशलीटेरियन व्यवस्था" की आलोचना की है और समाजवादी व्यवस्था के अर्थशास्त्र की विवेचना की है, वहां वह भी मार्क्स की पुनरुत्पादन की मूल स्थापनाएँ मान कर चलते हैं और उन्हें कम्युनिस्ट व्यवस्था के लिये लाज़मी मानते हैं।

तथ्य इस प्रकार के हैं।

मालूम होता है कि यहां भी, पुनरुत्पादन के सवाल पर भी, मार्क्स की "योजनाओं" के प्रति नाक-भौं सिकोड़ने के बावजूद, कॉमरेड यारोशेंको फिर दलदल में फँस गये हैं।

४. कॉमरेड यारोशेंको ने पोलीटिकल ब्यूरो के सदस्यों के नाम अपने ख़त को इस सुझाव के साथ ख़त्म किया है कि "समाजवाद के अर्थशास्त्र" को संकलित करने का काम उन्हें सौंप दिया जाय। वह लिखते हैं:

> "प्लीनरी बैठक, वर्किंग पैनेल और इस ख़त में मैंने जो समाजवाद के राजनीतिक-आर्थिक विज्ञान के क्षेत्र की व्याख्या की है, उसके आधार पर, और मार्क्सीय द्वन्द्वात्मक पद्धति को इस्तेमाल करते हुए, दो सहायकों की मदद से मैं साल भर में, या ज़्यादा से ज़्यादा डेढ़ साल में, समाजवाद के अर्थशास्त्र की बुनियादी समस्याओं का सैद्धान्तिक हल निकाल सकता हूँ, यानी समाजवाद के अर्थशास्त्र के मार्क्सवादी, लेनिनवादी-स्तालिनवादी सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर सकता हूँ, एक ऐसे सिद्धान्त का जो इस विज्ञान को कम्युनिज़्म के लिये जनता के संघर्ष का कारगर अस्त्र बना देगा।"

मानना पड़ेगा कि विनम्रता कॉमरेड यारोशेंको की खामियों में से नहीं है—अपने कुछ लेखकों की शैली उधार लेते हुए यह भी कहा जा सकता है कि—"बल्कि बात उल्टी ही है।"

ऊपर यह पहले ही कहा जा चुका है कि कॉमरेड यारोशेंको समाजवाद के अर्थशास्त्र को निर्देशक संस्थाओं की आर्थिक नीति से उलझा देते हैं। जिसे वह समाजवाद के अर्थशास्त्र का क्षेत्र समझते हैं—उत्पादक शक्तियों का बुद्धिसंगत संगठन, आर्थिक आयोजन, सामाजिक कोषों का निर्माण, वग़ैरह—वह निर्देशक संस्थाओं की आर्थिक नीति का क्षेत्र है, न कि समाजवाद के अर्थशास्त्र का।

इस बात के बारे में मैं कुछ नहीं कहता कि कॉमरेड यारोशेंको ने जो भारी ग़लतियाँ की हैं और उनका जो ग़ैर-मार्क्सवादी "मत" है, उसे देखते हुए, उन्हें ऐसा काम सौंपने की इच्छा किसी को नहीं हो सकती।

* *
*

परिणाम :

(१) कॉमरेड यारोशेंको ने बहस के प्रबन्धकों की जो शिकायत की है, वह निराधार है क्योंकि मार्क्सवादी होने के नाते अपने सारांश देनेवाले दस्तावेज़ों में वे उनके ग़ैर-मार्क्सवादी "मत" को प्रतिबिंबित नहीं कर सकते थे;

(२) कॉमरेड यारोशेंको की इस दरख़ास्त पर, कि उन्हें समाजवाद का अर्थशास्त्र लिखने का काम सौंपा जाय, गंभीरता से विचार नहीं किया जा सकता, अगर और किसी कारण से नहीं तो इसीलिये कि उसमें ख़्लेस्ताकोव-पंथ की दुर्गन्ध आती है।

२२ मई, १९५२ **जे. स्तालिन**

कॉमरेड अ. व. सनीना और व. ग. वेंज़र को जवाब

तुम्हारे ख़त मुझे मिल गये हैं। उनसे स्पष्ट है कि उनके लेखक हमारे देश की आर्थिक समस्याओं का गंभीरता और लगन से अध्ययन कर रहे हैं। ख़तों में कई सही स्थापनाएँ और दिलचस्प तर्क हैं। लेकिन इनके साथ कुछ भारी सैद्धान्तिक ग़लतियाँ भी हैं। इस जवाब में मैं इन ग़लतियों के बारे में कहना चाहता हूँ।

१. समाजवाद के आर्थिक नियमों का स्वरूप

कॉमरेड सनीना और वेंज़र का दावा है कि "भौतिक पैदावार में लगे हुए सोवियत नागरिकों की सचेत क्रिया से ही समाजवाद के आर्थिक नियम पैदा होते हैं।" यह मत क़तई ग़लत है।

क्या आर्थिक विकास के नियम, वस्तुगत रूप से, हमारे बाहर, इन्सान की इच्छा और चेतना से स्वतंत्र, अस्तित्व रखते हैं? मार्क्सवाद इसका जवाब हाँ में देता है। मार्क्सवाद का कहना है कि समाजवाद के अर्थशास्त्र के नियम, मनुष्य के दिमाग़ में हमारे बाहर मौजूद रहनेवाले नियमों का प्रतिबिंब हैं। लेकिन कॉमरेड सनीना और वेंज़र का फ़ॉर्मूला इसका जवाब नहीं में देता है। इसका मतलब है कि ये कॉमरेड इस ग़लत सिद्धान्त को मानकर चल रहे हैं जो कहता है कि समाजवाद के अन्तर्गत आर्थिक विकास के नियम समाज की निर्देशक

संस्थाओं द्वारा "रचे" जाते हैं, "तब्दील" किये जाते हैं। दूसरे शब्दों में वे मार्क्सवाद से नाता तोड़ रहे हैं और मनोगत आदर्शवाद का दृष्टिकोण अपना रहे हैं।

इसमें शक नहीं कि इन्सान इन वस्तुगत नियमों का पता लगा सकता है, उन्हें जान सकता है और उन पर भरोसा करते हुए समाज के हित में उन्हें इस्तेमाल कर सकता है। लेकिन वह उन्हें "रच" नहीं सकता है, न उन्हें "तब्दील" कर सकता है।

थोड़ी देर के लिये मान लीजिये कि हम उस ग़लत सिद्धान्त को मान लेते हैं, जो समाजवाद के अन्तर्गत आर्थिक कार्यवाही के वस्तुगत नियमों के अस्तित्व से इन्कार करता है और जो आर्थिक नियमों के "रचने" और उन्हें "तब्दील" करने की संभावना का ऐलान करता है। यह सिद्धान्त हमें कहाँ ले जायगा? यह हमें अराजकता और आकस्मिकता के राज्य में ले जायगा, हम आकस्मिकता पर गुलामों की तरह निर्भर हो जायँगे, और हम इस आकस्मिकता की अराजकता में न सिर्फ़ समझ-बूझ की संभावना खो देंगे, बल्कि उसमें से अपना रास्ता पाने की भी संभावना हम खो देंगे।

नतीजा यह होगा कि विज्ञान के तौर पर हम अर्थशास्त्र को नष्ट कर देंगे, क्योंकि वस्तुगत नियमों का अस्तित्व स्वीकार किये बिना और उनका अध्ययन किये बिना न विज्ञान का अस्तित्व हो सकता है, न वह विकसित हो सकता है। और विज्ञान को नष्ट करके हम देश के आर्थिक जीवन के प्रगति-क्रम के पूर्व ज्ञान की संभावना खो देंगे, दूसरे शब्दों में हम बहुत ही मामूली आर्थिक नेतृत्व देने तक की संभावना खो देंगे।

आखिर में हम उन "आर्थिक" मुहीमबाजों के आसरे रह जायंगे जो वस्तुगत नियम को समझे या उसका विचार किये बिना आर्थिक विकास के नियमों का "नाश" करने और नये नियम "रचने" के लिये तैयार हैं।

इस सवाल पर **ड्यूरिंग-मत-खंडन** में एंगेल्स ने मार्क्सवादी दृष्टिकोण की जो लाजवाब स्थापना दी है, उससे हर कोई परिचित है :

"समाज में काम करने वाली शक्तियाँ ठीक वैसे ही काम करती हैं जैसे प्रकृति में काम करने वाली शक्तियाँ : अंधगति से, ज़ोर-ज़बर्दस्ती से, विनाशकारी ढंग से—लेकिन उसी समय तक, जब तक कि हम उन्हें समझते नहीं हैं और उनको ध्यान में नहीं रख पाते । लेकिन एक बार जब हम उन्हें जान लेते हैं और यह समझ लेते हैं कि वे कैसे काम करती हैं, उनकी दिशा और उनके परिणाम क्या हैं, तब उन्हें क्रमशः अपनी इच्छा के मातहत करना और अपने लक्ष्य प्राप्त करने के लिये उन्हें इस्तेमाल करना पूरी तरह हमारे ऊपर निर्भर होता है । और आज की ज़बर्दस्त उत्पादक शक्तियों के लिये यह ख़ास तौर से सच है । जब तक हम हठपूर्वक उनकी प्रकृति और लक्षण समझने से इन्कार करते हैं—और पैदावार की पूँजीवादी पद्धति और उसके हिमायती ऐसी किसी भी कोशिश का विरोध करते हैं—तब तक ये शक्तियाँ हमारे बावजूद, हमारे ख़िलाफ़, काम करती रहती हैं, हम पर हावी हो जाती हैं जैसा कि हम विस्तार से दिखला आये हैं । लेकिन एक बार अगर उनकी प्रकृति समझ ली जाय तो एक साथ काम करनेवाले उत्पादकों के हाथों में वे दानवी मालिकों के बदले, ताबेदार सेवक बनायी जा सकती हैं । आकाश में कड़कनेवाली बिजली की विनाशकारी शक्ति और तार और आर्क-लाइट की वश में की गयी बिजली में यही अन्तर है; आग लगानेवाली और इन्सान की सेवा में रहनेवाली आग में यही अन्तर है । आज की उत्पादक शक्तियों की प्रकृति के, जिसे हम अब आख़िरकार जान गये हैं, अनुकूल उनका संचालन इस बात के लिये रास्ता साफ़ कर देता है कि हम सामाजिक पैदावार में अराजकता के बदले, पूरे समाज की और हर व्यक्ति की आवश्यकताओं

के अनुसार पैदावार का सामाजिक रूप से आयोजित नियमन क़ायम कर सकें। आत्मसात करने की उस पूँजीवादी पद्धति के बदले, जिसमें पहले उपज उत्पादक को गुलाम बनाती है और उसके बाद आत्मसात करनेवाले को भी, उपज को आत्मसात करने का वह तरीक़ा लागू होगा जो खुद पैदावार के मौजूदा साधनों के लक्षण पर आधारित होगा: एक तरफ़ तो पैदावार को क़ायम रखने और विस्तृत करने के साधनों के रूप में सीधे सामाजिक तौर से आत्मसात करना; और दूसरी तरफ़ जीवन और आनन्द के लिये साधन के रूप में सीधे-सीधे व्यक्ति द्वारा आत्मसात करना।"

२. पंचायती खेत सम्पत्ति को सार्वजनिक सम्पत्ति के स्तर तक लाने के उपाय

पंचायती खेत सम्पत्ति को, जो स्पष्ट ही सार्वजनिक सम्पत्ति नहीं है, सार्वजनिक ("राष्ट्रीय") सम्पत्ति के स्तर तक लाने के लिये कौन से उपाय ज़रूरी हैं?

कुछ कॉमरेड समझते हैं कि करना सिर्फ़ यह चाहिये कि सीधे-सीधे पंचायती खेत सम्पत्ति का राष्ट्रीकरण कर डालें, उसे सार्वजनिक सम्पत्ति घोषित कर दें जैसे कि पहले पूँजीवादी सम्पत्ति के साथ किया गया था। ऐसा प्रस्ताव क़तई गलत और क़तई अमान्य होगा। पंचायती-खेत सम्पत्ति, समाजवादी सम्पत्ति है और उसके साथ हम वैसा ही व्यवहार नहीं कर सकते जैसा पूँजीवादी सम्पत्ति के साथ। पंचायती खेत सम्पत्ति, सार्वजनिक सम्पत्ति नहीं है, इससे यह क़तई साबित नहीं होता कि वह समाजवादी सम्पत्ति नहीं है।

ये कॉमरेड विश्वास करते हैं कि व्यक्तियों या व्यक्ति-समूहों की सम्पत्ति को राज्य-सम्पत्ति में तब्दील करना राष्ट्रीकरण का एकमात्र या

कम से कम सबसे अच्छा तरीक़ा है। यह सत्य नहीं है। हक़ीक़त यह है कि राज्य-सम्पत्ति में तब्दील करना, राष्ट्रीकरण का न तो एकमात्र, और न सबसे अच्छा ही तरीक़ा है, बल्कि यह राष्ट्रीकरण का प्रारंभिक रूप है—जैसा कि एंगेल्स ने **ड्यूरिंग-मत-खंडन** में बिल्कुल ठीक ही लिखा था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जब तक राज्यसत्ता क़ायम है, राज्य-सम्पत्ति में तब्दील करना, राष्ट्रीकरण का सबसे स्वाभाविक प्रारंभिक रूप है। लेकिन राज्यसत्ता हमेशा तो क़ायम न रहेगी। दुनिया के बहुसंख्यक देशों में समाजवाद की कार्यवाही का क्षेत्र फैल जाने पर, राज्यसत्ता धीरे-धीरे ख़त्म हो जायगी, और निस्संदेह व्यक्तियों या व्यक्ति-समूहों की सम्पत्ति को राज्य-सम्पत्ति में तब्दील करना तब बेमानी हो जायगा। राज्यसत्ता ख़त्म हो जायगी, लेकिन समाज क़ायम रहेगा। इसलिये, उस समय सार्वजनिक सम्पत्ति की वारिस राज्यसत्ता न होगी, जो ख़त्म हो चुकी होगी, बल्कि एक केन्द्रीय, निर्देशक आर्थिक संस्था के रूप में खुद समाज होगा।

स्थिति जब यह है, तो पंचायती खेत सम्पत्ति को सार्वजनिक सम्पत्ति की सतह तक लाने के लिये क्या करना चाहिये?

पंचायती खेत सम्पत्ति को इस तरह ऊपर उठाने के मुख्य साधन के रूप में कॉमरेड सनीना और वेंज़र ने यह प्रस्ताव किया है कि पैदावार के मूल औज़ारों को, जो मशीन और ट्रैक्टर स्टेशनों में केन्द्रित हैं, पंचायती खेतों के हाथ, उनकी सम्पत्ति के तौर पर बेच दिया जाय। इस तरह राज्य को खेती में पूँजी लगाने की ज़रूरत से छुटकारा दे दिया जाय तथा मशीन और ट्रैक्टर स्टेशनों को क़ायम रखने और उनके विकास के लिये खुद पंचायती खेतों को ज़िम्मेदार बना दिया जाय। वे कहते हैं:

"यह समझना ग़लत है कि पंचायती खेतों में लगी हुई पूँजी मुख्य रूप से पंचायती खेतों वाले गाँवों की सांस्कृतिक आवश्यकताओं

के लिये इस्तेमाल की जानी चाहिये, जब कि खेतिहर पैदावार की ज़रूरतों के लिये अधिकतर पूँजी लगाने का भार पहले की ही तरह राज्य वहन करता रहे। यह देखते हुए कि पंचायती खेत जब इसे पूरी तरह खुद सँभाल सकते हैं, तो क्या राज्य को इस भार से मुक्त करना ज़्यादा सही न होगा? राज्य के सामने ऐसे बहुत से उद्योग होंगे जिनमें देश के वास्ते खाने-खरचने का बहुत सा माल पैदा करने के लिये राज्य अपना कोष लगा सकेगा।"

अपने प्रस्ताव के समर्थन में लेखकों ने कई दलीलें दी हैं।

पहली दलील है : स्तालिन के इस वक्तव्य का हवाला देते हुए कि पैदावार के साधन पंचायती खेतों को भी बेचे नहीं जाते, प्रस्ताव के रचयिता इस वक्तव्य पर यह कहते हुए शक ज़ाहिर करते हैं कि आखिर तो, राज्य पैदावार के साधन पंचायती खेतों को बेचता ही है—जैसे कि छोटे-मोटे औज़ार व छोटा-बड़ा हँसिया, मामूली ताक़त के इंजन, वगैरह। वे समझते हैं कि अगर राज्य, पैदावार के ऐसे साधन पंचायती खेतों को बेच सकता है, तो वह उन्हें पैदावार के दूसरे तरह के साधन भी बेच सकता है—जैसे कि मशीन और ट्रैक्टर स्टेशनों की मशीनें।

यह दलील निराधार है। बेशक, पंचायती खेतों को राज्य छोटे-मोटे औज़ार बेचता है, जैसा कि दरअसल कृषि-संघ के नियम और विधान के अनुसार उसे करना होता है। लेकिन क्या हम छोटे-मोटे औज़ारों को उसी कोटि में रख सकते हैं जिसमें पैदावार के ऐसे बुनियादी खेतिहर साधनों को रखते हैं—जैसे कि मशीन और ट्रैक्टर स्टेशनों की मशीनों को या कहें कि ज़मीन को, जो भी कि आखिर खेती में पैदावार का एक बुनियादी साधन है? ज़ाहिर है कि हम ऐसा नहीं कर सकते। उन्हें एक कोटि में नहीं रखा जा सकता क्योंकि छोटे-मोटे औज़ार किसी हद तक भी पंचायती खेत की पैदावार का भाग्य निर्णय नहीं करते, जब कि हमारी आज की परिस्थितियों में मशीन और ट्रैक्टर स्टेशनों की मशीनें

और ज़मीन जैसे पैदावार के साधन, खेती का पूरी तरह भाग्य निर्णय करते हैं।

यह समझना मुश्किल न होगा कि जब स्तालिन ने कहा था कि पंचायती खेतों को भी पैदावार के साधन नहीं बेचे जाते, तो मतलब छोटे-मोटे औज़ारों से नहीं था, बल्कि खेतिहर पैदावार के बुनियादी साधनों से था—मशीन और ट्रैक्टर स्टेशनों की मशीनों से और ज़मीन से था। लेखक इन शब्दों—"पैदावार के साधनों"—के साथ खिलवाड़ कर रहे हैं और बिना यह समझे हुए कि वे दलदल में फँस रहे हैं, उन्होंने दो भिन्न चीज़ों को उलझा दिया है।

दूसरी दलील है : कॉमरेड सनीना और वेंज़र आगे इस बात का हवाला देते हैं कि पंचायती खेत के सामूहिक आन्दोलन के शुरुआती दौर में—१९२९ के अन्त और १९३० के आरंभ में—सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) की केन्द्रीय कमिटी खुद इस पक्ष में थी कि पंचायती खेतों की सम्पत्ति के रूप में मशीन और ट्रैक्टर स्टेशन उन्हें दे दिये जायं और तीन साल में उन्हें इन स्टेशनों की क़ीमत चुका देने के लिये कहा जाय। वे समझते हैं कि गोकि उस समय, पंचायती खेतों की "ग़रीबी के कारण" इसका कुछ नतीजा न हुआ, लेकिन अब जब कि वे धनी हो गये हैं, इस नीति पर लौट आना हितकर होगा, यानी मशीन और ट्रैक्टर स्टेशनों को पंचायती खेतों के हाथ बेच दिये जायं।

यह दलील भी उसी तरह निराधार है। यह सच है कि १९३० के शुरू में सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) की केन्द्रीय कमिटी ने पंचायती खेतों के हाथ मशीन और ट्रैक्टर स्टेशन बेचने का फ़ैसला लिया था। पंचायती खेतों के शॉक-वर्करों के एक समूह की तरफ़ से एक सुझाव के मुताबिक एक प्रयोग के तौर पर, एक परीक्षा के रूप में, वह मंजूर हुआ था। ख़याल यह था कि जल्द ही इस सवाल

पर फिर से गौर किया जायगा और उसकी फिर से छानबीन होगी। लेकिन पहली ही परीक्षा ने इस फ़ैसले की अनुपयोगिता दिखला दी और कुछ महीने बाद, यानी १९३० के अन्त में उसे ख़ारिज कर दिया गया।

पंचायती खेत आन्दोलन के अगले प्रसार और पंचायती खेतों के निर्माण के विकास ने पंचायती किसानों और प्रमुख अधिकारियों, दोनों को ही यह पक्का यक़ीन दिला दिया कि खेतिहर पैदावार के बुनियादी औज़ारों का राज्य के हाथों में, मशीन और ट्रैक्टर स्टेशनों के हाथों में केन्द्रित होना ही, पंचायती खेत में पैदावार के प्रसार की ऊँची रफ़्तार को निश्चित करने का एकमात्र तरीक़ा है।

खेतिहर पैदावार हमारे देश में जो भारी डग भर रही है; अनाज, कपास, सन, शकर बनाने का चुक़न्दर वग़ैरह की जो बढ़ती हुई उपज है — उससे हम सभी को सन्तोष है। इस बढ़ती का कारण क्या है? इसका कारण कौशल का आधुनिकतम सामान है, ढेरों आधुनिकतम मशीनें हैं जो पैदावार की सभी शाखों के काम आती हैं। सवाल आम तौर से मशीनों का नहीं है; सवाल यह है कि मशीनें एक जगह स्थिर नहीं रह सकतीं, उनमें हर वक्त निखार होता रहता है, पुरानी मशीनें हटा दी जाती हैं और उनकी जगह नयी चालू की जाती हैं, और नयी की जगह और भी नयी चालू की जाती हैं। इसके बिना हमारी समाजवादी खेती का आगे बढ़ना असंभव हो जायगा; बड़े पैमाने की फ़सलों और खेतिहर उपज की बहुतायत का सवाल न उठेगा। लेकिन लाखों पहियेदार ट्रैक्टरों को हटाने और उनकी जगह कैटरपिलर ट्रैक्टर चालू करने में; लाखों पुराने पड़ चुके हारवेस्टर-कम्बाइनों को बदलकर उनकी जगह और आधुनिकतम-कम्बाइनों को चालू करने में; नई मशीनें, मसलन औद्योगिक फ़सलों के लिये, बनाने में—क्या लागत आती है? इसमें अरबों रूबल की लागत लगती है जो छः या आठ साल बीतने पर ही वसूल होती है। क्या हमारे पंचायती खेत इस योग्य

हैं कि इतना खर्च बर्दाश्त कर सकें, भले ही उनकी आमदनी करोड़ों की क्यों न हो ? नहीं, वे इस योग्य नहीं हैं, क्योंकि वे इस स्थिति में नहीं हैं कि छः या आठ साल के बाद वसूल हो सकनेवाले अरबों रूबल खर्च कर सकें। इतना खर्च सिर्फ़ राज्य ही बर्दाश्त कर सकता है क्योंकि वही, और केवल वही, इस स्थिति में है कि पुरानी मशीनों को हटाने और उनकी जगह नयी मशीनें चालू करने में जो घाटा होता है, उसे बर्दाश्त कर सके; क्योंकि वही, और केवल वही, इस स्थिति में है कि ऐसा घाटा छः या आठ साल तक बर्दाश्त कर सके और उसके बाद ही लागत वसूल कर सके।

यह सब देखते हुए, यदि पंचायती खेतों के हाथों में उनकी सम्पत्ति के रूप में मशीन और ट्रैक्टर स्टेशनों को बेच दिया जाय, तो नतीजा क्या होगा? नतीजा यह होगा कि पंचायती खेत भारी घाटे में पड़ेंगे और तबाह हो जायंगे, खेती में मशीनें चालू करने का काम भीतर से कमजोर पड़ जायगा, और पंचायती खेतों की पैदावार का विकास मंदा पड़ जायगा।

इसलिये, नतीजा यह निकलता है कि पंचायती खेतों के हाथों में उनकी सम्पत्ति के रूप में मशीन और ट्रैक्टर स्टेशनों को बेच दिये जाने का प्रस्ताव रखकर कॉमरेड सनीना और वेंज़र पुराने पिछड़ेपन की ओर क़दम उठाने का सुझाव रख रहे हैं और इतिहास की गति को पीछे मोड़ने की कोशिश कर रहे हैं।

थोड़ी देर के लिये यह मान लिया जाय कि हमने कॉमरेड सनीना और वेंज़र का प्रस्ताव मान लिया और पंचायती खेतों के हाथों में उनकी सम्पत्ति के रूप में पैदावार के बुनियादी औज़ारों को, मशीन और ट्रैक्टर स्टेशनों को बेचना शुरू कर दिया। नतीजा क्या निकलेगा?

पहले तो नतीजा यह निकलेगा कि पंचायती खेत, पैदावार के बुनियादी औज़ारों के मालिक हो जायंगे; यानी उनकी हैसियत एक

अपवादरूप होगी जैसी कि हमारे देश में किसी उद्योग की नहीं है। जैसा हमें मालूम है कि हमारे देश में, राष्ट्रीकरण किये गये उद्योग भी अपने पैदावार के औज़ारों के मालिक नहीं हैं। किस तरह, प्रगति और उन्नति के किस ख़याल से, पंचायती खेतों की यह अपवादरूप हैसियत उचित ठहराई जा सकती है? क्या यह कहा जा सकता है कि इस तरह की हैसियत पंचायती खेत सम्पत्ति को सार्वजनिक सम्पत्ति की सतह तक उठाने में मदद देगी, क्या वह हमारे समाज को सोशलिज्म से कम्युनिज़्म तक पहुँचाने में फुर्ती करायेगी? क्या यह कहना ज़्यादा सच न होगा कि ऐसी हैसियत, पंचायती खेत सम्पत्ति और सार्वजनिक सम्पत्ति के बीच और भी गहरी खाई खोदेगी और हमें कम्युनिज़्म के ज़रा भी नज़दीक न पहुँचायेगी, बल्कि, उल्टा, हमें उससे और दूर ले जायगी?

दूसरे, नतीजा यह निकलेगा कि बिकाऊ माल के चलन का व्यापार-क्षेत्र और बढ़ जायगा क्योंकि खेतिहर पैदावार के औज़ारों की विशाल मात्रा उसके दायरे में आ जायगी। कॉमरेड सनीना और वेंज़र का क्या यह ख़याल है कि बिकाऊ माल के चलन का क्षेत्र विस्तृत होने से कम्युनिज़्म की तरफ़ हमारी प्रगति में मदद मिलेगी? क्या यह कहना ज़्यादा सच न होगा कि उससे कम्युनिज़्म की तरफ़ हमारी प्रगति में और रुकावट ही होगी?

कॉमरेड सनीना और वेंज़र की बुनियादी ग़लती इस बात में है कि वे समाजवाद में बिकाऊ माल के चलन की भूमिका और उसका महत्व नहीं समझते; वे यह नहीं समझते कि बिकाऊ माल का चलन और सोशलिज्म से कम्युनिज़्म की तरफ़ भावी संक्रमण, एक साथ नहीं चल सकते। ज़ाहिर है कि वे समझते हैं कि सोशलिज्म से कम्युनिज़्म की ओर संक्रमण बिकाऊ माल के चलन के साथ भी मुमकिन है, कि बिकाऊ माल का चलन उसमें बाधक नहीं हो सकता। यह एक भारी ग़लती है जो मार्क्सवाद की नाकाफ़ी समझ से पैदा हुई है।

ड्यूरिंग के "आर्थिक कम्यून" की आलोचना करते हुए, जो बिकाऊ माल की परिस्थितियों में चालू रहता है, एंगेल्स ने **ड्यूरिंग-मत-खंडन** में अच्छी तरह दिखला दिया है कि बिकाऊ माल के चलन का क़ायम रहना ड्यूरिंग के तथाकथित "आर्थिक कम्यूनों" को लाज़मी तौर से पूँजीवाद के नवजीवन की तरफ़ ले ही जाता। स्पष्ट ही कॉमरेड सनीना और वेंज़र इससे सहमत नहीं हैं। यह उनके लिये और भी मुसीबत की बात है। लेकिन हम मार्क्सवादी इस मार्क्सवादी दृष्टिकोण के हामी हैं कि समाजवाद से कम्युनिज़्म की तरफ़ संक्रमण में और उपज को जरूरत के हिसाब से बांटने के कम्युनिस्ट उसूल में बिकाऊ माल का विनिमय क़तई नहीं रहता और इसलिये उपज, बिकाऊ माल का रूप नहीं लेती और उसके साथ ही मूल्य में उसकी तब्दीली नहीं होती।

यह हुआ कॉमरेड सनीना और वेंज़र के प्रस्ताव और उनकी दलीलों के बारे में।

लेकिन तब पंचायती खेत की सम्पत्ति को सार्वजनिक सम्पत्ति की सतह तक लाने के लिये किया क्या जाय?

पंचायती खेत एक असाधारण किस्म का उद्योग है। वह ज़मीन पर चालू होता है और उस ज़मीन पर खेती करता है जो बहुत दिन से सार्वजनिक है और जो पंचायती खेत की सम्पत्ति नहीं है। इसलिये, पंचायती खेत उस ज़मीन का मालिक नहीं है जिसे वह जोतता-बोता है।

और भी, पंचायती खेत पैदावार के उन बुनियादी औज़ारों से काम करता है जो सार्वजनिक सम्पत्ति हैं, न कि पंचायती-खेत की सम्पत्ति हैं। इसलिये पंचायती खेत, पैदावार के बुनियादी औज़ारों के मालिक नहीं हैं।

इसके अलावा, पंचायती खेत एक सहकारी उद्योग है। वह अपने सदस्यों की मेहनत इस्तेमाल करता है और अपनी आमदनी को काम के दिनों के हिसाब से अपने सदस्यों में बाँट देता है। वह अपने बीज का मालिक है जो हर साल नया होता है और पैदावार में लग जाता है।

तब पंचायती खेत किस चीज़ की मालिक है? पंचायती खेत की वह सम्पत्ति कौन सी है जिसे वह पूरी आज़ादी के साथ व अपनी इच्छा से निपटा सकता है? पंचायती खेत की यह सम्पत्ति उसकी उपज, पंचायती खेत की उपज है: अनाज, गोश्त, मक्खन, तरकारी, कपास, शकर बनाने का चुक़न्दर, सन, वग़ैरह। इसमें पंचायती किसानों की घरेलू ज़मीन पर के मकानों और निजी किसानी की गिनती नहीं की गयी है। हक़ीक़त यह है कि इस उपज का काफ़ी हिस्सा, पंचायती खेत की अतिरिक्त उपज, बाज़ार में चली जाती है और इस तरह बिकाऊ माल के चलन में शामिल हो जाती है। ठीक यही वह परिस्थिति है जो आज पंचायती खेत सम्पत्ति को सार्वजनिक सम्पत्ति की सतह तक आने से रोकती है। इसलिये यही वह छोर है, जहाँ से पंचायती खेत सम्पत्ति को सार्वजनिक सम्पत्ति की सतह तक लाने का काम शुरू होना चाहिये।

पंचायती खेत सम्पत्ति को सार्वजनिक सम्पत्ति की सतह तक लाने के लिये यह ज़रूरी है कि पंचायती खेत की अतिरिक्त उपज को बिकाऊ माल के चलन की व्यवस्था से बाहर निकाल लिया जाय और राज्य के उद्योग-धंधों और पंचायती खेतों के बीच होनेवाले उपज-विनिमय की व्यवस्था में उसे शामिल कर लिया जाय। मूल बात यह है।

हमारे यहाँ अब भी उपज-विनिमय की कोई विकसित व्यवस्था नहीं है, लेकिन इस व्यवस्था के प्राथमिक तत्व खेतिहर उपज की "सौदागरी" के रूप में मौजूद हैं। जैसा कि हमें मालूम है, अभी भी बहुत दिनों से कपास, सन, चुकन्दर उगानेवाले और दूसरे पंचायती खेतों की उपज की "सौदागरी" होती है। यह सच है कि उसकी पूरी तरह

"सौदागरी" नहीं होती, बल्कि आंशिक रूप से ही होती है। फिर भी उसकी "सौदागरी" तो होती ही है। यहाँ लगे हाथ यह भी कह देना चाहिये कि यहाँ "सौदागरी" शब्द अच्छा नहीं है और उसकी जगह "उपज-विनिमय" होना चाहिये। काम यह है कि उपज-विनिमय के इन प्राथमिक तत्वों को खेती की सभी शाखों में फैलाया जाय और उन्हें एक विशद व्यवस्था में विकसित किया जाय। इससे पंचायती खेत अपनी उपज के लिये न सिर्फ़ धन पायेंगे, बल्कि, और मुख्य रूप से, अपनी ज़रूरत की उद्योग सामग्री भी वे पायेंगे। ऐसी व्यवस्था में शहर द्वारा देहात को दिये जाने वाले माल में बहुत ज़्यादा बढ़ती करनी होगी और इसलिये इसे बिना किसी ख़ास जल्दबाज़ी के लागू करना होगा और वैसे वैसे ही, जैसे जैसे कि शहर में उत्पादन बढ़ता जायगा। लेकिन उसे बिना हिचकिचाहट के और बिना इधर-उधर विचलित हुए लागू करना होगा—कदम-ब-कदम बिकाऊ माल के चलन के व्यापार-क्षेत्र को संकुचित करते हुए और उपज-विनिमय के व्यापार-क्षेत्र को विस्तृत करते हुए लागू करना होगा।

इस तरह की व्यवस्था, बिकाऊ माल के चलन के व्यापार-क्षेत्र को संकुचित करेगी और समाजवाद से कम्युनिज़्म तक पहुँचने को आसान बनायेगी। और भी, वह पंचायती खेतों की बुनियादी सम्पत्ति को, पंचायती खेती की उपज को, राष्ट्रीय आयोजन की आम व्यवस्था में शामिल कर लेगी।

हमारी आज की परिस्थितियों में पंचायती खेत. सम्पत्ति को, सार्वजनिक सम्पत्ति की सतह तक लाने का यह एक वास्तविक और कारगर साधन होगा।

क्या इस तरह की व्यवस्था पंचायती खेतों के किसानों के लिये लाभदायक होगी? बेशक, यह लाभदायक होगी। लाभदायक इसलिये होगी कि इससे पंचायती खेतों के किसान बिकाऊ माल के चलन के